THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180055

UNIVERSAL
LIBRARY

* रजकण *

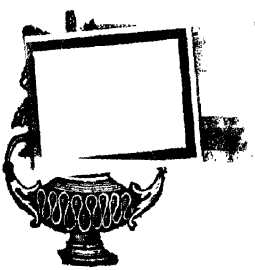

लेखक–पं० चतुरसैन शास्त्री

पुरुषत्व

पुरुषत्व

राजेन्द्र अपनी करुण-कहानी कह चुके, तब उसे सुन कर रामेश्वर ज़ोर से हँस पड़े। इस हास्य से अप्रतिभ होकर राजेन्द्र ने उधर से मुँह फेर लिया।

रामेश्वर बोले—राजेन्द्र बाबू ! हिकमत सीख कर ही हकीमी करना उचित है। जिस विद्या को तुम जानते ही नहीं, उसमें टाँग क्यों अड़ाते हो और फिर बेवक़ूफ़ बनने पर बिगड़ते क्यों हो ?

राजेन्द्र ने कहा—क्या यह भी कोई विद्या है, जो सीखनी पड़ेगी ?

"अवश्य !"

"और उसका कॉलेज कहाँ है ?"

"खुला हुआ विश्व ही उसका कॉलेज है, आत्म-वेदना और सहृदयता तथा स्थैर्य उसकी पाठ्य पुस्तकें हैं। जीवन के सम्मुख हठात् आ जाने वाली छोटी-बड़ी घटनाएँ उसके पाठ हैं, जिन्हें मनुष्य को संयमपूर्वक पढ़ना उचित है।"

"यह ख़ूब रही यह पाठ भी इस तरह पढ़ा जायगा, इसका तो कभी ख़्याल भी नहीं किया था। अब कॉलेज छोड़ने और विद्यार्थी-जीवन को भूल जाने पर इस विस्तृत

विश्व को किस तरह पढ़ा जाय ? कोई जीता-जागता गुरु भी तो दृष्टि नहीं पड़ता।"

रामेश्वर ने गम्भीरता से कहा—ऐसी ही इच्छा है तो प्रारम्भिक पाठ तो मैं ही पढ़ा दूँगा।

"अच्छी बात है, आज ही से सही। पर कुछ फ़ीस-वीस×××"

"समस्त आशा और अभिलाषाओं का बलिदान। क्या तुममें इतना साहस है ?"

"साहस ?"

रामेश्वर ने घूर कर मित्र को देखा—हाँ साहस ! इस दुरूह विद्या की फ़ीस इतनी ही अधिक है।

"अच्छी बात है। अब पाठ शुरू हो, मुझमें बहुत साहस है।"

"न भी होगा तो करना पड़ेगा। अच्छा सुनो—पहले यही बात विचारनी चाहिए कि स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं।"

"क्या चाहती हैं ?"—राजेन्द्र ने व्यग्र होकर पूछा।

योग के गहन सूत्र की तरह रामेश्वर ने कहा :—

"पुरुषत्व"

"मैं समझ गया।"

"मुझे भय है, तुम नहीं समझे। पुरुषत्व क्या वस्तु है, यह भी तुम्हें समझने की जरूरत है।"

"क्या मैं पुरुषत्व को भी समझने की योग्यता नहीं रखता ?"

"जो पुरुष पुरुषत्व को समझता है, वह कभी इन करुण-कहानियों का दयनीय पात्र नहीं बनता।"

"तब वह पुरुषत्व क्या वस्तु है ?"

"पुरुषत्व वह वस्तु है, जिसका स्त्री के शरीर, स्वभाव, जीवन-निर्माण और उसके स्त्रीत्व में नितान्त अभाव है। और उसके बिना स्त्रीत्व उतना ही बेस्वाद है, जितना लवण के बिना रसोई।"

"किन्तु उसकी रूप-रेखा क्या है ?"

"केवल भावगम्य, और उसका प्रभाव अमोघ है। कोई स्त्री उसके सम्मुख सीधी खड़ी रह ही नहीं सकती।"

"किन्तु वह अत्यन्त निष्ठुर और बड़ी गर्वीली है।"

"यह सम्भव ही नहीं है।"

"वह निरी पत्थर या इस्पात की बनी हुई है।"

"स्त्रियाँ इन वस्तुओं की बनाई ही नहीं जातीं।"

"तुम निश्चय ही उसके सम्मुख जाकर लज्जित और विफल होओगे।"

"यह प्रकृति के सर्वथा विपरीत बात है।"

"तब मेरी-तुम्हारी बाजी रही, अगर तुम उसका गर्व-भञ्जन कर सको, उसे वश में ला सको, तो मैं १० हजार रुपए हारा।"

"देखता हूँ, तुममें साहस का उदय हो रहा है। अस्तु, यद्यपि किसी स्त्री को वश में लाने के लिए इतना आतुर होना 'पुरुषत्व' को न शोभा देने वाली बात है, पर पुरुषत्व का अर्थ अब तुम्हें सप्रयोग समझाना पड़ेगा। मुझे तुम्हारी चुनौती स्वीकार है। मैं आज ही रात को वहाँ चलूँगा, मगर तुम्हें मेरी आज्ञा के सर्वथा अधीन रहना पड़ेगा।"

"मुझे मञ्जूर है।"

दोनों मित्र विदा हुए।

२

उसका नाम था हीरा। रूप की हाट में उसके चढ़ते दिन थे। डेरेदार, ठिकाने की वेश्या थी। उसकी माँ ने गाने-बजाने, अदब-क़ायदे की वेश्या-वृत्ति-सम्बन्धी शिक्षा के सिवा उसे अङ्गरेज़ी और हिन्दी-उर्दू की भी कुछ शिक्षा दी थी। लाखों की सम्पदा उसकी माँ कमा कर जवानी से उतरी थी। उसके बाद वह नायिका के पद पर ३-४ यौवनों का सम्पूर्ण सौदा कर चुकी थी। शहर की हवेली बीच चौक में अपनी शान नहीं रखती थी। नगर के बाहर की कोठी नवाबी ठाठ से सजी थी। हीरा जिस रङ्ग की पोशाक पहन कर उतरती थी, उसी रङ्ग के जवाहरात से जड़े गहने पहनती और उसी रङ्ग से रँगी मोटर में बैठती। नौकरों और ड्राइवरों की वर्दी भी उसी रङ्ग की होती थी। सन्ध्या के समय हीरा के रूप और ठाठ पर

नगर की आँखें सड़कों पर बिछी रहती थीं। साधारण ज़मींदार तक वहाँ पहुँचने की हिम्मत न करते थे, सर्व-साधारण की बात तो दूर है। वेश्या ज़रूर थी; अस्मत-फ़रोश ज़रूर थी, परन्तु कितनी मँहगी ? कितनी दुर्लभ ? कितनी नफ़ीस कि शहर में प्रायः सभी की ज़बान पर चाहे जब हीरा उछलने लगती थी।

हीरा की उम्र का १७वाँ साल जा रहा था। उसका रङ्ग मोती के समान स्वच्छ और पानीदार था, गालों की सुर्खी—मानों छूते ही ख़ून टपक पड़ेगा; होठ और आँखें मानों परस्पर स्पर्धा करती थीं। अमृत और हलाहल विष का आँखों से अटूट झरना झरता ही रहता था। जो एक बार देखता था, मर जाता और क्षण भर में ही जी जाता था। धवल दन्त-पंक्ति की बहार उन रस-भरे उत्फुल्ल होठों के अरुण वर्ण के बीच कैसी मोहक, कैसी प्यारी लगती थी ! गर्दन और वक्षस्थल मानों इटली के किसी कारीगर की सङ्गमरमर पर अमर करामात थी। बढ़िया ईरानी क़ालीन पर बैठ कर बिजली के दहकते प्रकाश में, बिजली के पङ्खे के नीचे अपने महीन, सादे, उज्ज्वल परिधान में जब वह गाने बैठती थी, और उस हंस के समान शुभ्र कण्ठ से इन क़व्वाली और ग़ज़लों के स्थान पर जब विशुद्ध स्वर, ताल, लय मूर्च्छनायुक्त सङ्गीत-लहरी का स्रोत बहता था, उस समय की बात क्या कही जाय ? उस

उमड़ते रस-समुद्र में पहले वह स्वयं डूबती, तब अर्द्ध-निमीलित नेत्र, कम्पित कण्ठ-स्वर, फड़कते होठ और अलसता से अस्त-व्यस्त बिखरती हुई देह, किस मर्द को मर्द बना रहने दे सकती थी ?

ऐसी ही वह अप्रतिम रूप-गुण-सम्पन्ना, राज-महलों में भी दुर्लभ स्त्री-रत्न, वह वेश्या-पुत्री थी, जिससे निराश होकर राजेन्द्र आत्मघात की अभिलाषा मन में सञ्चित कर रहे थे और उनके मित्र जिसे विजय कर लेने का बीड़ा उठा चुके थे।

ये दोनों ही मित्र नगर के गण्य-मान्य, धनी तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। दोनों की ही सज्जनता में कलाम न था, पर युवक राजेन्द्र बाज़ार के पत्ते चाटने के शौक़ीन थे। उनके मित्र रामेश्वर उनसे उम्र में कुछ बड़े थे, और विचारवान्, गम्भीर और चरित्रवान् व्यक्ति थे।

एक चरित्रवान् व्यक्ति, जो स्त्रियों के सम्मुख अपने को पुरुष समझता हो, उस पुरुष की समझ में आ ही नहीं सकता था, जो प्रति क्षण स्त्री-मात्र के लिए दास बना रहने का अभिलाषी था। और यही दोनों के जीवन की ऐसी विभिन्न दिशाएँ थीं, जहाँ बहुधा दोनों मित्र टकराया करते थे।

इस बार रामेश्वर ने वेश्या के घर जाना स्वीकार करके राजेन्द्र को आश्चर्य-चकित कर दिया। वह यह कौतूहल भी

देखना चाहता था कि समस्त नगर की स्पर्धा और अभिलाषा की वस्तु हीरा को यह व्यक्ति और ऐसी कौन वस्तु देकर वश करेगा, जो मैं न दे सका था ; और—और वह "पुरुषत्व" की कैसी विचित्र व्याख्या करेगा। इसी विचार से एक प्रकार प्रसन्नचित्त राजेन्द्र घर लौटा।

३

उसी ज्वलन्त प्रकाश में हीरा साज़िन्दों सहित बैठी थी। सामने केवल दोनों मित्र थे। राजेन्द्र के अनुरोध से कोठे के द्वार बन्द करा दिए गए थे।

हीरा को देख कर रामेश्वर के चित्त में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हुआ। हाय ! सर्प को यह सौन्दर्य ! उन्होंने क्षण भर में उस रूप को हृदयङ्गत कर एक बार कमरे पर दृष्टि डाली, और एक मसनद के सहारे उढ़क बैठे।

सङ्गीत-लहरी उठी और गिरी, जीवन आया और गया—राजेन्द्र लोटन कबूतर हो रहा था, मिनिट-मिनिट पर नोट फेंक रहा था। पर रामेश्वर अचल-निर्विकल्प प्रतिमा की तरह हीरा के मुख पर दृष्टि दिए सङ्गीत-सुधा पी रहे थे। उनके नेत्रों में कौतूहल नहीं, उन्माद नहीं, औत्सुक्य नहीं, विनोद नहीं, उदासीनता नहीं, मोह नहीं। साथ ही होठ में हास्य नहीं, स्पन्दन नहीं।

बालिका वेश्या-पुत्री ने यह देखा—समझा, धीरे-धीरे वह इस वज्र-पुरुष की ओर आकर्षित हुई। वह उसके

होठों में एक मुस्कान देखने की अभिलाषा लेकर और भी यत्न, और भी कौशल, और भी मनोयोग से अपनी कलाओं का विस्तार करने लगी। उसके ललाट पर पसीना हो गया। वह थक कर हाँफने लगी। उसने लज्जित होकर गाना बन्द कर दिया—जीवन में उसे पहली बार ही ऐसा नवीन पुरुष दिखा, जो उसे देख कर मरा नहीं और सुन कर जिया नहीं !

वह अपने वस्त्र सँभाल, चाँदी की तश्तरी में पान लेकर उठी, प्रथम रामेश्वर के सामने अदब से झुक कर तश्तरी की। रामेश्वर ने पान उठाया और सौ रुपए का नोट तश्तरी में फेंक दिया।

क्षण भर को हीरा अवाक् हुई। उसने एक ही क्षण में रामेश्वर को, नायिका को और तश्तरी को देखा, एक बार वह झुकी और आगे बढ़ी।

रामेश्वर उठ खड़े हुए। राजेन्द्र भी उठे। उस दिन फिर हीरा और नहीं गा सकी।

४

दो सप्ताह बीत गए। हीरा को नित्य ही गाना पड़ता था, परन्तु उसका उल्लास और मग्न होना कहीं चला गया था। उसका मन उदास और चञ्चल रहता था। बहुधा वह गाते-गाते बहुत ही निरुत्साह हो जाती थी—कभी-कभी वह गाना बन्द कर एकदम ऊपर जाकर पड़

रहती थी। इस नई परिस्थिति का कारण वह स्वयं नहीं जानती थी; मानों कोई एक नई ठोकर उसके हृदय को लगी थी। किसी अतर्क्य शक्ति से रामेश्वर की मूर्त्ति दिन भर में लाखों बार उसके सम्मुख खड़ी हो जाती थी। हीरा को उस मूर्त्ति पर कितना क्रोध, कितनी विरक्ति और कितनी अवहेलना थी—परन्तु वह मूर्त्ति मानों उसके नेत्रों में तप्त शलाका की तरह घुस गई थी। वह कभी-कभी बहुत ही झुँझला उठती थी। वह सोचती थी, कैसा वह आदमी था—मानों गूँगा और बहरा, बिलकुल अन्धा, मूर्ख, गँवार! किन्तु? किन्तु वह नोट? नोट न था, रद्दी काग़ज़ का टुकड़ा था। तब क्या वह कुछ और ही था? क्या वह इस रूप को सचमुच ठुकरा गया? मेरे पसीने पर भी उसकी मूँछ का एक बाल न खिला। वह एक बार भी न हँसा, न हिला, न बोला; वह मनुष्य न था, पत्थर था। निर्मम×××हीरा सोचने लगी, क्या अब वह न आएगा? मैं उसे भाई ही नहीं, यही तो बात है! न मेरा रूप, न सङ्गीत, न और कुछ ही उसे पसन्द लगा; पर फिर वह नोट क्यों फेंक गया? और मैंने ही क्यों ले लिया? जिसे मैं पसन्द ही नहीं, जो मुझ पर—मेरी कला पर रीझा ही नहीं, उसका रुपया मैंने क्यों लिया? हाय! वह मुझे हरा गया, मेरा अपमान कर गया। हीरा ग़ुस्से से होठ चबा कर उठी, पूरे—क़द्दे-आदम—शीशे के सामने उसने एक बार अपने अनिन्द्य यौवन की

परछाईं को देखा, और फिर वह रोती हुई कुर्सी पर बैठ गई। उसने निश्चय कर लिया कि बदला लूँगी।

× × ×

राजेन्द्र आते ही हीरा के अत्यन्त निकट बढ़ आए। उन्होंने उसे उदास देख कर कहा—यह क्या? क्या आज बादल बरसने वाले हैं?

हीरा ने सिर उठा कर राजेन्द्र को देखा, सँभल कर बैठी और बोली—आप क्या खेती बोकर आए हैं, जो बरसने की इतनी इन्तज़ारी में हैं?

राजेन्द्र ठण्डे पड़ गए। उन्होंने कहा—आज तो बहुत ही नाराज़ मालूम होती हो, क्या मेरी कुछ ख़ता हुई?

"यह ख़ूब, बरसते-बरसते आपको नाराज़ी की भी आँच लग गई।"

कुछ भी न समझ कर राजेन्द्र ज़ोर से हँस पड़े। हाय! कितना पुरुषत्वहीन हास्य था वह! वे और नज़दीक खिसक कर हीरा से सट कर बैठने लगे। हीरा ने दूर हटते हुए कहा—

"हाँ, आपके उन दोस्त का क्या हाल है, फिर कभी तशरीफ़ नहीं लाए? शायद गाना पसन्द नहीं आया। आजकल के लोग गुणों की क़द्र कम करते हैं—समझते भी कम हैं।" पिछली पंक्ति कहते-कहते हीरा की आँखों में सौ रुपए का नोट आ खड़ा हुआ, यह स्वयं ही अपनी बात पर शङ्कित हो गई।

राजेन्द्र का उधर ध्यान न था, वे बोले—उस दिन के बाद उन्होंने कुछ चर्चा ही नहीं चलाई, मगर गाना वे नहीं समझते, यह न कहना—वे स्वयं बहुत अच्छे गवैये हैं, सितार और दिलरुबा बजाने में शहर भर में उनकी जोड़ का कोई नहीं। आज मैं उन्हें लाऊँगा।

हीरा विकल हो उठी। आह! उस दिन के बाद फिर चर्चा ही नहीं, मुझे धिक्कार है; यह रूप, यह यौवन, सब धिक्कार—धिक्कार! हीरा इन तूफ़ानी विचारों को ज़ब्त न कर सकी। वह उठ खड़ी हुई और सोचने लगी, तब उस आदमी को प्रति क्षण स्मरण करके मैंने अपना ही अपमान किया। उसने घृणा-मिश्रित स्वर में कहा—"जिसकी मर्ज़ी हो वह आवे या न आवे, हम लोग किसी को बुलाने तो नहीं जाते?" राजेन्द्र फिर रात को उन्हें लाने का वादा करके चल दिए।

× × ×

हीरा ने पक्का इरादा कर लिया कि आज वह उस मग़रूर पुरुष का अवश्य अपमान करेगी। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन ढलता गया, हीरा को अपने शृङ्गार की चिन्ता बढ़ती गई। वह व्याकुल हो गई। वह कौन सी पोशाक पहने, यह कुछ निर्णय ही न कर सकी। उसने कई पोशाकें पहनीं और उतारीं, कई ढङ्ग से बालों का जूड़ा बाँधा और खोला, कई इत्र लगाए और मुँह धोया; पर किस रूप में, किस रङ्ग

में, किस साज में आज वह अपने यौवन को प्रकाशित करे—वह निर्णय न कर सकी। उसने हठात् माँ से पोशाक का प्रस्ताव किया।

बुढ़िया अवाक् रह गई। पोशाक का क्या मतलब? आज क्या कहीं जाना है?

हीरा झेंप गई। वह अपनी कोठरी में भाग गई।

सन्ध्या हुई। अन्धकार के हृदय को विदीर्ण करके हीरा ने बिजली का प्रकाश कमरे में फैलाया और ताज़े फूलों का एक बड़ा-सा गजरा गले में डाल, वह उस छकड़ा भर रूप और यौवन को लेकर उस प्रकाश के हृदय में सचमुच हीरे ही के समान विराजमान हुई।

दोनों मित्रों ने घर में प्रवेश किया। मन्त्र-मुग्धा सर्पिनी की तरह हीरा खड़ी हो गई। मित्र बैठ गए। हीरा खड़ी रही। रामेश्वर ने क्षण भर उसके मुख की ओर देख कर कहा—बैठिए!

हीरा बैठ गई। गर्व और उल्लास उसके यौवन को अरक्षित छोड़ भागा। वह विनय और सङ्कोच से सङ्कुचित यौवन को अपनी वेश्या-शक्ति के बल पर यथासम्भव चैतन्य करके गाने के आयोजन में लगी।

रामेश्वर ने बाधा देकर कहा—कष्ट न कीजिए, मुझे आपकी अम्माँ जी से कुछ बातें एकान्त में करनी हैं। क्षमा कीजिएगा!

हीरा अन्यमनस्का हो, उठ कर बाहर चली गई। हाय रे आज का शृङ्गार!

नायिका ने सुना, चौंकी और गम्भीर हुई। कुछ ही मिनिट में वह एकान्त वार्ता समाप्त हुई। हीरा दो हज़ार रुपए मासिक पर रामेश्वर की नौकर हुई।

५

बिना उससे पूछे ही उसका सौदा हो गया, यह सुन कर हीरा बहुत ही क्रुद्ध हुई। उसने धरती में पैर पटक कर कहा—वह पुरुष? वह नीरस, गँवार, गूँगा, बहरा पुरुष? उसकी यह हिम्मत? मैं इससे बदला लूँगी, मैं इसका हर तरह अपमान करूँगी। वह उसी क्रोध में भरी नायिका के पास गई। नायिका ने वेश्या-धर्म की कठोर मर्यादा का विस्तृत वर्णन करके उसे शान्त किया। हीरा को उसी दिन मालिक की सेवा में चली जाना पड़ा।

हीरा के लिए एक नए बँगले की आयोजना की गई। उसमें चार दासी, दो दास और एक प्रबन्धक रख दिया गया। पोशाक और खाने-पीने की वस्तुओं की गिनती न थी। कमरों में बहुमूल्य वस्तुओं की सजावट का पार न था। शृङ्गार और ऐश्वर्य के नाते अटूट सम्पदा जो कुछ ख़रीद सकती है, वह सब वहाँ प्रस्तुत था। हीरा की रुचि और अभ्यास के अनुकूल आभूषण, मोटर और अन्य सामान प्रथम ही से उपस्थित कर दिए गए थे। उस राज-

महल-सदृश बँगले में आकर हीरा चकित, भीत-विमूढ़ बनी खड़ी रही। यह सब कुछ हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। परन्तु इस समस्त वैभव के पीछे जो मूर्त्ति छिपी हुई है, वह—वह—निर्मम, रसहीन मूर्त्ति ? अरे !×××
हीरा सोचने लगी, क्या वह मूर्ख, बेतमीज और नीरस है ? ना ना, यह तो सम्भव ही नहीं; यह सब कुछ तो कुछ और ही मालूम होता है। परन्तु चाहे जो कुछ भी हो, मैं उसका अपमान करूँगी। मैं कभी उसके अधीन न होऊँगी। सन्ध्या हुई—बिजली के आलोक से बँगला इन्द्र-भवन हो गया। मानों अनगिनत आलोकित नक्षत्रों के नीचे हीरा दिप रही थी। उसने सहसा मोटर आने का शब्द सुना। उसने बलपूर्वक अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया—न बोलूँगी, न बोलूँगी, न बोलूँगी।

स्वयं मान करना और औरों का मान भञ्जन करना हीरा का व्यवसाय था। वह पुरुष, जो नारी-हृदय का नहीं, नारी-शरीर का भूखा है—हीरा के द्वार पर खड़ा होता और धरती तक झुकता है! यह दृश्य हीरा के नेत्रों को स्वाभाविक था। पुरुष की वह तस्वीर हीरा की चिर-परिचिता थी, जो हीरा के लिए प्यासी छटपटा रही थी। किन्तु उसी पुरुष-छाया के नीचे पौरुष का कुछ और भी रूप रहता है, यह हीरा को मालूम न था।

अपने अभ्यास के अनुसार उससे भी अधिक, बहुत अधिक तन कर हीरा उस शत्रु-पुरुष को, जिसने उसके स्त्री-शरीर की ज़रा भी परवाह न की थी, परास्त करने—अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर तैयार हो गई। आधा घण्टा व्यतीत हो गया। हठात् मोटर के जाने का शब्द सुन कर वह चौंकी। उसने खिड़की से देखा, वही वज्र-पुरुष तीर की तरह उड़ा जा रहा है। हीरा क्रुद्ध सर्पिनी की तरह फुफकार मार कर, पैर पटक-पटक कर ज़ोर से कमरे में घूमने लगी। समस्त दर्प शृङ्गार किया हुआ रह गया, शत्रु सामने ही न आया। परन्तु हीरा पराजित योद्धा की तरह विचलित हो गई। उसने दासी को बुला कर पूछा :—

"क्या बाबू साहब आए थे ?"

"जी हाँ !"

"किस लिए ?"

"सरकार को कुछ चाहिए तो नहीं, यह देखने।"

"कुछ कहते थे ?"

"कहते थे कि मालकिन को कोई कष्ट न हो और उनका हुक्म फ़ौरन तामील किया जाय।"

हीरा ने गुस्से से होंठ चबा कर कहा—हुक्म फ़ौरन तामील किया जाय ?

"जी हुज़ूर !"

"मेरा हुक्म है, यह शख़्स बँगले में न घुसने पाए।"

दासी मुँह ताकने लगी। हीरा ने डपट कर बाहर जाने का हुक्म दिया। दासी के जाते ही हीरा पलँग पर गिर कर फूट-फूट कर रोने लगी। उस दिन रात भर हीरा सो न सकी।

६

कई दिन बीत गए। रामेश्वर हीरा के आज्ञानुसार बँगले में नहीं आते। वे प्रति दिन नियमित समय पर मोटर में आते और बँगले के कम्पाउण्ड के बाहर मोटर में ही बैठे-बैठे हीरा की कुशल ले जाते थे।

उस क्षण की बाट हीरा प्रातःकाल से सन्ध्या तक देखा करती। मोटर की शब्द-ध्वनि मानों जगत् में एक ध्येय वस्तु थी। उनके आने से घण्टों प्रथम वह खिड़की में, पर्दे की ओट में, खड़ी हो जाती। प्रथम वह छिपकर खड़ी होती, धीरे-धीरे प्रकट होने लगी। अब वह बिलकुल खुली खिड़की में सामने खड़ी होती थी। प्रतिदिन नया शृङ्गार, नई पोशाक, नया केश-विन्यास होता था। पर हाय रे पुरुष-पाषाण! एक क्षण को भी वह ऊपर दृष्टि करके उस जीवित आलोक को देखता न था। किस निर्जन वन में हीरा ने रूप और यौवन की हाट लगाई!!

धीरे-धीरे हीरा को वहाँ रहना असह्य हो गया। यह भी कोई बात है, वे आते हैं, ख़बर ले जाते हैं, रानियों के ठाठ और सुख दे रक्खे हैं। सब कुछ दे ही जाते हैं,

माँगते कुछ नहीं। हाय! मैं इनका कब अपमान करूँ? कैसे करूँ? क्या इसे मुझसे कुछ भी नहीं लेना है? मेरे पास क्या इस वज्र पुरुष को देने योग्य कुछ नहीं है? यह रूप, यह यौवन, यह शरीर, यह शृङ्गार—उफ़! नगर में इसके कितने दाम हैं। मगर दाम? दाम—दाम की बात याद करके वह सोचने लगी—वह सोचने लगी, दाम तो इन्होंने भी दिए हैं—इतना खर्च, इतना धन-व्यय, इतना यत्न! तब फिर यह किस लिए? इस सौन्दर्य को सुखाने या सड़ाने के लिए? हीरा विचार-सागर में डूबने-उतराने लगी। पर थाह न मिली।

दस दिन और व्यतीत हो गए। हीरा के अस्वस्थ होने का समाचार पाकर रामेश्वर नगर के दो प्रमुख डॉक्टरों को लेकर दौड़े। रामेश्वर बँगले के बाहर ही मोटर पर बैठे रहे। हीरा पलँग पर पड़ी थी। डॉक्टरों ने आते ही यन्त्र सँभाले।

हीरा ने उत्तेजित होकर कहा—आप लोगों के कष्ट की ज़रूरत नहीं है, कृपा कर आप जाइए!

डॉक्टरों ने उसे समझाना चाहा। उसने झल्ला कर कहा—वे—वे कहाँ हैं? हाय! वे कहाँ हैं?

रामेश्वर ने धीरे-धीरे कमरे में प्रवेश किया। हीरा ने उधर से मुँह फेर लिया।

रामेश्वर ने कहा—ज़रा आप इन्हें देख लेने दें।

"आप इन्हें विदा करें।"

"किन्तु×××"

"विदा कर दें।"

रामेश्वर ने डॉक्टरों को विदा कर दिया।

रामेश्वर ने पूछा—शायद आपकी तबीयत अब अच्छी है, ज़रा आराम करने से ठीक हो जायगी।

हीरा बोली नहीं! वह आँख भी न मिला सकी। उसके होठ ज़रा फड़क कर रह गए।

रामेश्वर चलने को उद्यत हुए।

हीरा ने उद्विग्न होकर कहा—ठहरिए!

रामेश्वर बैठ गए। वह उठ बैठी, फिर खड़ी हो गई। रामेश्वर एकटक उसके मुख को ताकते रहे। हीरा आगे बढ़ी। रामेश्वर उठ कर पीछे हटने लगे। हीरा मानों होश में न थी। वह सोच रही थी—क्या पुरुष स्त्री को सम्पदा और ऐश्वर्य देकर पुरुषत्व से उऋण हो सकता है? स्त्री को पुरुष से जो कुछ चाहिए, उसके लिए भी क्या कोई पुरुष नारी को इतना तरसा सकता है? हीरा का कण्ठ अवरुद्ध था। वह टूटते शब्दों में, अश्रु-धारा में डूबती हुई बोली—"आप—आप क्या थोड़ा विष मुझे नहीं दे सकते?" रामेश्वर ने करुणा, स्नेह और उदारता से कहा—"आप यह क्या कह रही हैं? आपके प्राणों के लिए मेरे प्राण, और आपके जीवन के लिए मेरा जीवन अभी हाज़िर है।"

"वही तो, वही तो, वही तो मुझे दो। ये समस्त ठाठ, कोठी, बँगले, अटारी, महल—सब में आग लगा दो। इस अधम शरीर के लिए आपने इतना किया; पर ये प्राण सूखे जाते हैं—जीवन मरा जाता है; वही मुझे दो—अपने प्राण और अपना जीवन। मैं उसी की प्यासी हूँ—इतना क्यों तरसाते हो निर्दयी, निष्ठुर, ?"

हीरा ने आवेश में ये शब्द कहे। वह रामेश्वर पर झुक पड़ी, ज़ोर से उनकी क़मीज़ फाड़ डाली! फिर अचेत होकर धरती पर गिर गई।

रामेश्वर धैर्यच्युत न हुए। उन्होंने धीरे से हीरा को उठा कर कौच पर लिटा दिया। होश में आने पर हीरा झपट कर रामेश्वर से लिपटने को दौड़ी। रामेश्वर ने ज़रा हट कर मधुर-स्वर में कहा—कृपा कर सावधान होइए। आपको क्या कष्ट है?

हीरा खसक कर रामेश्वर के पैरों में आ पड़ी। वह रो रही थी। अनन्त रुदन उमड़ रहा था, बाँध टूट गया था। अब हीरा नहीं रो रही थी, नारी-हृदय रो रहा था।

रामेश्वर ने कहा—आप क्या चाहती हैं? कहिए तो, मैं शक्ति भर आपकी सेवा करूँगा।

"मैं क्या चाहती हूँ, यह आप पूछते हैं? स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं—यह आप पुरुष होकर नहीं जानते।

आप ऐसे निष्ठुर पुरुष××" हीरा बीच ही में रह गई। आवेश से उसके होठ काँप रहे थे।

रामेश्वर ने संयत भाषा में कहा—मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं। परन्तु आप स्त्री नहीं, वेश्या हैं; यह दुखद-सत्य मुझे कहना ही पड़ा। वेश्या को जो मूल्य देना होता है, मैं शक्ति भर दे रहा हूँ।

हीरा कुछ भी न समझी। वह बोली—क्या वेश्याएँ स्त्री नहीं होतीं?

"नहीं!"

"कैसे?"—हीरा ने गर्दन उठा कर पूछा।

रामेश्वर कहने लगे—स्त्री जगत् की एक पवित्र स्वर्गीय ज्योति है। वह पुरुष-शक्ति के लिए जीवन-सुधा है। स्त्री के बल पर पुरुष असंख्य उत्तरदायित्व का भीषण से भीषण भार सहन करके भी जीवित रह सकता है। वह स्त्री दया, प्रेम, पवित्रता, दान, करुणा और कोमलता की मूर्त्ति होनी चाहिए। त्याग उनका स्वभाव, प्रदान उनका धर्म, सहनशीलता उनका व्रत और प्रेम उनका जीवन है। परन्तु वेश्या जगत् की एक विकृत वस्तु है। देखने में मोहक और कोमल, किन्तु वास्तव में हलाहल विष; अपहरण उनका व्यवसाय, छल उनका स्वभाव, पाप उनका जीवन और पतन उनका मार्ग है। स्त्री जिस वस्तु को शरीर के

टुकड़े-टुकड़े होने पर भी किसी को अर्पण नहीं कर सकती, वेश्या उसे खुले बाज़ार टके सेर बेचती है। जानती हो, वह क्या वस्तु है ?

"क्या वस्तु है ?"

"अस्मत, हाय ! वह अस्मत, जिसका वास्तविक मूल्य इस पृथ्वी पर है ही नहीं, और विधाता ने स्त्री समझ कर वह दी थी ; उसे आप—वेश्याएँ—कोढ़ी, कलङ्की, पतित—चाहे जिसे भी बेच देती हो। ताँबे के टुकड़ों में इतनी शक्ति हम स्वार्थी पुरुष भी कभी नहीं अनुभव कर पाते।"

इतना कह कर रामेश्वर क्षण भर चुप रहे। हीरा चुप-चाप निश्चल पैरों में नीचा सिर किए पड़ी थी। रामेश्वर ने अतिशय करुण-स्वर में हीरा के सिर पर प्यार से हाथ रख कर किञ्चित् आकाश की ओर मुख उठा कर कहा—अभागिनी नारी ! इस शरीर का समर्पण तुम कमीने धन के बदले में चाहे भी जिस व्यक्ति को कैसे कर सकती हो ? हाय ! जैसे विष-पुष्प के सूँघते ही मृत्यु आती है, वैसी ही विष-पुष्प तुम हो। पुरुष, जो महान् पौरुष के बल पर मनुष्य-समाज के प्रारब्ध का निर्माता है, कैसे निकृष्ट होकर वेश्या का दास बन जाता है ! तुम वेश्या×××

हीरा ने मोती के समान दो आँसू टपका कर कहा—आप मुझे वेश्या न कहें ?

रामेश्वर अटक कर बोले—तब क्या कहूँ ?

"मैं स्त्री हूँ।"

रामेश्वर की आँखों में आँसू भर आए, और टपक गए। वे चुपचाप कुछ देर तक हीरा के सिर पर हाथ धरे बैठे रहे। फिर बोले—मैंने तुम्हें देखते ही समझ लिया था कि तुम स्त्री-रत्न हो, पर तुम्हारी चाहना उस वस्तु की न थी, जो किसी स्त्री की होनी चाहिए। वेश्या होना स्त्रीत्व से पतित होना है। वेश्या बन कर कोई स्त्री, स्त्री तो रह ही नहीं सकती। मैंने यह सोच कर कि वेश्यावृत्ति कभी तो मरेगी और नारीत्व उदय होगा, इस देव-तुल्य शरीर को वेश्या के लिए जो मूल्य देना था, देकर ले आया। मैंने निश्चय किया था, वेश्यापुत्री हो तो क्या, वेश्या कभी न बनने दूँगा। पर क्या सचमुच तुम स्त्री बना चाहती हो?

"अवश्य, परन्तु×××"

"परन्तु क्या?" हीरा ने बड़ी-बड़ी आँखें उठा कर देखा।

रामेश्वर बोले—बोलो, बोलो! हीरा ने अपरिमित अनुनय नेत्रों में भर कर कहा—मालिक मेरे! क्या स्त्री बन कर मुझे पुरुष प्राप्त होगा?

रामेश्वर घबराए। हीरा ने रामेश्वर का पल्ला पकड़ लिया। उसने कहा—मैं पुरुष के लिए ही स्त्री बनती हूँ।

रामेश्वर तन न सके। उन्होंने कहा—प्रिये! स्त्री ही के लिए पुरुष है।

विश्वास

विश्वास

बस्ती से बाहर एक छोटी-सी टेकरी के नीचे उसका झोंपड़ा था। ऊपर से देखने में वह दरिद्रता की छाया में डूबा हुआ था। बहुत कम पथिक उधर होकर जाते थे। उधर से जो रास्ता जाता था, वह आगे निकट ही घनघोर वन में खो गया था। देहाती लकड़ी बीनने वालों या अहेरियों को छोड़ और उधर किसे जाने की इच्छा हो सकती थी ?

उसका नाम था नन्दू। उम्र ५० को पार कर गई थी। चेहरे की खाल लटक गई थी और वह फूल गया था। अत्यधिक शराब पीने का यह फल था। आँखें हरदम जलती रहती थीं। आवाज़ तीखी थी। जब बोलता था, मानो साँड़ दूँक रहा हो। कमर झुक गई थी और एक-दो दाँत भी गिर गए थे। फिर भी कठिन पुरुषार्थ उसका जीवन था। वस्त्रों और शरीर की तरफ़ उसका कभी ध्यान भी न गया था। उसकी व्यवसाय-प्रकृति और जीवन ही इस योग्य न था। वह उस जङ्गल के एकान्त कोने में जङ्गली पशु की तरह रहता था। ऊपर से हर तरह यही बात प्रतीत होती थी।

पर हठात् कुटी में घुस पड़ने से यह बात ग़लत साबित होती थी। उस नर-पशु के साथ उस दरिद्र और अशुभ कुटी में एक मधुर मूर्त्ति रहती थी। चम्पा के समान उसका रङ्ग था और बिलकुल नपा-तुला शरीर था; कण्ठ-स्वर और चाल की मोहकता कभी-कभी उधर से गुज़रने वाले पथिकों को नसीब हो जाती थी। उसका नाम था मैना, उसकी उम्र २५ के लगभग होगी। पर सौन्दर्य मानों अस्फुट था। वह अस्फुट सौन्दर्य मैले और फटे वस्त्रों से, अरक्षित भाव से ढँका उस कुटी को सौभाग्य दे रहा था। यह उस नर-पशु की धर्मपत्नी थी!

हाय! कितना अद्भुत, कैसा आश्चर्यजनक बेमेल मेल था। उसे क्या कहा जाय? क्या लोहा और सोना की उपमा दी जाय या रात्रि और दिन की? अथवा राहु द्वारा चन्द्र-ग्रहण की? मेरी समझ में किसी की नहीं। सभी में एक न एक सौन्दर्य था, नहीं था इस जोड़े के सम्मिलन में।

यह नर-पशु और वह स्वर्ण-सुन्दरी थी। बस यहीं तक बात न थी, वह ऐसी पतिव्रता और पति-सेवा की पुतली थी कि इन दो गुणों ही के लिए नारी-जाति में उसकी उपमा दी जा सकती है। और यह बात आसपास प्रसिद्ध भी थी।

यह अद्भुत दम्पति, जगत से दूर अवश्य रहते थे, किन्तु जगत् की दृष्टि से बचे न थे। पुलिस और सरकारी

अधिकारियों से लेकर साधारण नागरिक तक उस बदमाश को, उसके क़ानून के विरुद्ध कार्यों से तथा उसके द्वारा नित्य होते हुए अपराधों के द्वारा जानते थे। उसी प्रकार आसपास सर्वत्र ही यह बात भी प्रसिद्ध थी कि जगत का कोई भी प्रलोभन उसकी स्त्री को उसके प्रति विद्रोही एवं विचलित नहीं कर सकता था। यह बात भी प्रसिद्ध थी कि अनेक उच्च-पदस्थ राज-कर्मचारी उसे भ्रष्ट करने और उसके द्वारा उसके पति के रहस्य-भेद करने की चेष्टा में हर तरह विफल हुए।

वास्तव में चोरी, डकैती, अफ़ीम बेचना, जाली रुपया बनाना आदि कुकर्म ही उस अधम पति का व्यवसाय था। व्यवसाय यहीं तक रहता तो भी उसमें एक मर्दानगी थी। परन्तु वह नर-पशु अपने व्यवसाय की सहायता में चाहे जब निस्सङ्कोच भाव से अपनी पत्नी के सौन्दर्य का उपयोग कर लेता था।

किसी भी सुलक्षणा पतिव्रता के लिए यह कितना कठिन है, इस बात पर विचार करना चाहिए। उठती हुई उम्र की युवती, परम सुन्दरी, जीवन की स्वाभाविक लालसाओं और अभिलाषाओं के स्थान पर, जो हृदय की प्रत्येक तरङ्ग के साथ उठती हों, उसे अपने पवित्र विश्वास, अभ्यास और धर्म के विपरीत पति ही की आज्ञा से वह अभिनय भी करना पड़ता था। इसके सिवा वह प्रायः दिन

भर और आधी रात तक और बहुधा तीन-तीन, चार-चार दिन तक अकेली, बिना किसी पशु-पक्षी के सहयोग के उस एकान्त जङ्गल में, धूप और सन्नाटे से भरा दिन और अन्धकार तथा भय से परिपूर्ण रात्रि व्यतीत करती थी। यही कारण था कि हास्य की रेखा कभी उसके सुन्दर कपोलों पर नहीं देखी गई। और धीरे-धीरे उसके गालों की सुर्खी और अङ्गों की लुनाई नष्ट होकर उस पर स्याही और पीलापन फैल रहा था।

२

रामसिंह को बीसवाँ वर्ष बीत रहा था, पर अभी उसकी रेखें नहीं भींगी थीं। उसका रङ्ग तपाए कुन्दन सा और बदन इस्पात का बना था। चौड़ी छाती, लम्बी भुजा, उठी हुई गर्दन, प्रफुल्ल और उभरे हुए नेत्र और ओष्ठों से उसके हृदय की पवित्रता प्रकट होती थी।

वह अपनी वृद्धा और दरिद्र विधवा माता का एक-मात्र पुत्र था। वह गत वर्ष ही सिपाहियों में भर्ती हुआ था। उस दिन प्रभात के समय जब उसकी माता ने उसकी बिदाई की पूरी तैयारी कर दी, तब सिर पर पगड़ी बाँधते-बाँधते उसने कहा—माँ! इस मुहिम में यदि मुझे विजय प्राप्त हुई, तो अगले वर्ष मैं इस पगड़ी पर सुनहरा झब्बा लगाऊँगा, और मैं नायब तो बन ही जाऊँगा।

वृद्धा ने सुख की साँस ली; उसके होठों पर हास्य, आँखों में आशा और आँसू एवं शरीर में रोमाञ्च का उदय हुआ। वह बोल ही न सकी और चुपचाप बेटे के शरीर पर हाथ फेरने लगी। कुछ ही क्षण बाद माता और पुत्र दोनों पाशबद्ध हो गए।

वृद्धा ने आँसू पोंछते हुए कहा—रामू! बेटे! डाकुओं से तू कैसे लड़ेगा? तू अकेला कभी घर से बाहर नहीं गया था, आज तुझे भेजते मेरी छाती फटती है। मेरे लाल, जैसे पीठ दिखाता है, वैसे मुख दिखाइयो। दुखियारी महतारी को भूल न जाना।

रामसिंह ने उज्ज्वल नेत्रों को माता के मुख पर गाड़ दिया। वह हँसा। उसने कहा—माँ! मैं नौकरी बजा कर शीघ्र आऊँगा, डर किस बात का है।

माता को कहने योग्य बात न थी। वह चुपचाप आँसू पोंछती जाती थी—तैयारी कर रही थी। कुछ ही क्षण बाद रामसिंह माँ की आँखों से ओझल हो गया।

३

यह घटना उस समय की है, जब भारतवर्ष में बीसवीं शताब्दी की सभ्यता और अङ्गरेज़ों के साम्राज्य का विस्तार नहीं हुआ था। नागरिकता और व्यापार के वर्त्तमान साधन देश में न थे। यह उन दिनों की बात है, जब क़लम ने तलवार पर विजय नहीं प्राप्त की थी, और भूखे-नङ्गे

देहाती भी फटे चिथड़ों में शरीर और तलवार लपेटे घर से बाहर काम-काज को निकला करते थे।

युवक घोड़े पर दिनभर चलता-चलता थक गया था। घोड़ा और युवक दोनों ही सुस्ताने की इच्छा करते थे। सन्ध्या हो चली थी, सूरज और उसके आस-पास के बादलों में रङ्ग उत्पन्न हो रहे थे, युवक ज़रा तेज़ी से घोड़ा बढ़ा कर यात्रा के अन्तिम भाग को दिन ही दिन में पूर्ण किया चाहता था। सामने घने वृक्षों के झुरमुट में नगर दीख पड़ता था, कुत्तों का स्वर उसके कान में आ रहा था, वह विश्राम और शान्ति का ध्यान करता बढ़ा चला जा रहा था। बग़ल ही में एक चीत्कार ने उसे अचानक रोका। क्षण ही भर में घटनास्थल पर उसने देखा—एक सुन्दरी, जो गोद में बहुत से फूल भर रही थी, भय से थर-थर काँप रही है, और एक सिंह उस पर आक्रमण करने की तैयारी में है। दृष्टि पड़ते ही दूसरे क्षण युवक की तलवार निकल आई, और उस वनपशु तथा युवक में एक विकट संग्राम छिड़ गया। इस अनोखे भयानक खेल को अकेली अबला अपने भय-कम्पित और अर्द्ध-मूर्च्छित नेत्रों से देखती रही। अन्त में वह वनपशु एक गर्जना के साथ धरती में गिरा और फिर युवक ने धीर-भाव से रक्त से भरी हुई तलवार धीरे-धीरे उसकी छाती से खींच कर बाहर की।

बालिका बहुत डर गई थी। वह अब भी थर-थर काँप रही थी। युवक ने सहज-स्वभाव से उसके निकट आकर कहा—क्या तुम बस्ती में जाओगी? मैं उधर ही चल रहा हूँ।

सुन्दरी ने कहा—मैं नगर के निकट ही नगर से बाहर रहती हूँ, पर तुम यदि मुझे थोड़ी दूर छोड़ आओ तो बड़ी दया हो, मैं बहुत डर गई हूँ।

युवक ने कहा—अच्छी बात है, पर यदि आप घोड़े पर चढ़ना जानती हों तो चढ़ लीजिए।

युवती सङ्कोच में पड़ गई। उसने कहा—ना, मैं नहीं चढ़ सकती, मैं गिर जाऊँगी।

युवक ने कहा—गिरने का कोई भय नहीं। उसने हाथ का सहारा देकर युवती को घोड़े पर चढ़ा लिया, फिर स्वयं कूद कर चढ़ गया। युवक ने कहा—अनुचित तो है, पर मुझे नौकरी पर सूरज छिपने से प्रथम ही पहुँचना है। उसने घोड़ा छोड़ दिया।

सन्ध्या की मनोहर स्वर्णप्रभा और वायु उनकी पीठ पर थपकियाँ ले रही थी। उस मौन, अपरिचित एवं हठात् सम्मेलन का क्या होगा?

४

ज्येष्ठ की झलझलाती दोपहरी, लूओं के झुलसाने वाले झोंके नङ्गी और उत्तप्त पहाड़ियों से टकरा रहे थे। उन

उत्तप्त, नङ्गी पहाड़ियों के बीच जहाँ-तहाँ जङ्गली पेड़ों के खोखलों में पक्षियों के शावक अकेले छटपटा रहे थे, दाने-चारे की खोज में पक्षी उन्हें अकेले छोड़ गए थे। उसी तरह उन्हीं नग्न और उत्तप्त पहाड़ी के नीचे एक बिलकुल जलते हुए छोटे से झोपड़े में लू और चिन्ता से जलती हुई वही सुन्दरी अकेली खिड़की से बाहर दूर तक आँखें फैलाए हुए उस भयानक ग्रीष्म की अग्निवर्षा देख रही थी। उसके मुँह पर जलती हुई लूओं के थपेड़े पड़ते थे। पर उसे इसकी चिन्ता न थी। वह—मैना—वह कल सन्ध्या से अपने पति, उसी नर-पशु की प्रतीक्षा में वहीं खड़ी है। रातभर वहीं खड़ी रही है, और अब आधा दिन बीत चला है, अन्न-जल की उसे इच्छा नहीं—मानों शरीर और मन उस एकनिष्ठ तपस्या के वशीभूत हो रहे हैं।

नन्दू एक बड़े डाके में से गहरा हाथ मार कर लाया था और पुलिस की खोज-जाँच से कुछ समय दूर रहने के लिए घर से भाग गया है। मैना सोच रही है, क्या वे कहीं किसी विपत्ति में तो नहीं पड़ गए? वे पकड़े तो नहीं गए? वह बार-बार इस कुशङ्का को मन में प्रवेश करती और फिर निकाल फेंकती है। वह कभी रोती है, कभी दूर तक देखती और कभी सर्वशक्तिमान परमेश्वर को याद कर घुटनों तक झुक जाती है।

हठात् घोड़े की पदध्वनि सुन कर वह चौंकी। क्षणभर बाद एक सरकारी सिपाही धीरे-धीरे आता दीख पड़ा। झोपड़ी पर दृष्टि पड़ते ही उसने सावधानी से अपनी तलवार पर हाथ रक्खा और फिर वह धीर-गति से आगे बढ़ कर झोपड़ी के द्वार पर घोड़े से उतर पड़ा।

कुछ ही क्षणों में यह सब हो गया, परन्तु इतनी ही देर में मैना ने घर के समस्त द्वार बन्द कर लिए थे और वह सबसे भीतर की कोठरी में किवाड़ बन्द करके बैठ गई थी। द्वार पर थाप पड़ते ही वह चौंकी, पर काँपी नहीं। ऐसे प्रसङ्ग कई बार हो चुके थे। कई थाप पड़ने पर उसने साहस किया। वह द्वार पर आई और द्वार खोल दिया। खोल कर देखा, बिलकुल उठती उम्र का वही उसका रक्षक सुन्दर युवक, लाल, चमचमाता चेहरा लिए सामने खड़ा है। उसने हँस कर कहा—तुम×××आप ही इस मकान की स्वामिनी हैं? मैना ने जवाब दिया—हाँ××नहीं, मेरे स्वामी बाहर गए हैं।

"कृपा कर क्या आप मुझे क्षण भर यहाँ विश्राम करने देंगी? कैसी आग बरस रही है! सरकारी काम से निकलना पड़ा; पर यदि विश्राम न मिला तो मैं और घोड़ा दोनों ही मर जावेंगे। क्या आप दया करेंगी?"

मैना का भय दूर हुआ। उसने कुछ सोचा, फिर कहा—भीतर आ जाओ। युवक भीतर घुस कर एक दृष्टि

झोपड़ी के भीतरी अङ्ग पर फेर गया। मैना ने कहा—क्या जल लाऊँ ? सङ्केत पाकर मैना जल ले आई। युवक ने जल पीकर कहा—आश्चर्य है, आप अकेली इस जङ्गल में किस तरह रह रही हैं ?

"मैं अकेली नहीं हूँ, मेरे पति भी हैं।" युवक ने तीव्र दृष्टि से मैना को देख कर कहा—आपके पति विचित्र पुरुष मालूम होते हैं। आप ऐसी सुन्दरी को यह झोपड़ा ! यह वन ! इस एकान्त में वे क्या धन्धा करते हैं ? यह प्रश्न करके युवक ने तेज दृष्टि से मैना को देखा। मैना घबरा गई। वह कुछ न कह सकी। युवक ने एक बार घूम कर झोपड़े को फिर देख डाला।

अब मैना बोली। सरकारी आदमियों से मेरे पति को घृणा है। अब तुमने जल पी लिया, ठण्डे हो गए, अब तुम चल दो, वरना मेरे पति आने पर नाराज़ होंगे।

युवक मैना के बिलकुल निकट आ गया। वह कुछ बोला नहीं। वह ँस दिया। मैना काँप उठी, पर वह भी बोली नहीं। युवक ने अपने अँगरखे का बटन दिखा कर कहा—क्या आप मुझे ज़रा सुई-डोरा देंगी ? मेरा बटन टूट गया है।

मैना ने सुई-डोरा निकाल कर कहा—अँगरखा उतार दो, मैं सिए देती हूँ।

युवक ने जवाब दिया—सरकारी वर्दी उतारी नहीं जा सकती। क्या आप कृपा करके × × ×

"ठहरो, मैं सिए देती हूँ।"—मैना बिलकुल युवक से सट कर बटन सीने लगी। सीकर उसने बटन खींच कर लगाया। इतनी सावधानी होने पर भी युवक का श्वास-प्रश्वास और लोहे के समान छाती का स्पर्श उस नारी से अज्ञात न रहा। वह समझ ही न सकी कि क्या हो रहा है। उसका सिर चक्कर खाने लगा। वह सुई का अन्तिम डोरा बटन से निकाल ही न सकी और मूर्च्छित हो गई।

युवक ने उसे सावधानी से बिछौने पर लिटाया और मुख पर पानी का छींटा दिया।

मैना ने आँख खोली, देखा और उठ कर बोली—अब तुम जाओ, तुम यहाँ मत ठहरो।

युवक ने गम्भीर होकर कहा—मुझे खेद है, बहुत खेद है; मैं जा नहीं सकता। तुम्हारे पति ने जो अभी डाका डाला है, उसकी जाँच का भार मुझी पर है। मैं मकान की तलाशी लूँगा।

"तलाशी!" मैना को भवें चढ़ गईं—"तुम—तुम झूठे, कपटी, लबार"—वह और कुछ न कह सकी।

युवक चुपचाप गालियाँ खा गया। मैना उसके नज़दीक आकर बोली—तब तुम हमारे शत्रु हो।

"मैं आपका मित्र हूँ।"

"तुम ?"

"मैं"

"तुम ?"

"मैं"

मैना ने सुई उठाई और खच से युवक की बाँह में चुभो दी।

मानो कुछ हुआ ही नहीं। वह वेदना युवक ने बिना जरा-सी चेष्टा बदले सह ली। क्षण ही भर में मैना विचलित हो गई। वह स्तब्ध खड़ी थी, युवक ने सहसा उसकी बाँह अपनी लोह-अँगुलियों से पकड़ कर कहा—सुन्दरी, मैं शत्रु नहीं हूँ।

मैना ने वेदना से तड़प कर कहा—छोड़ ! छोड़ दो।

युवक ने छोड़ दिया, मैना धरती में गिर पड़ी।

युवक ने उसे उठाया नहीं, वह खड़ा देखता रहा। मैना ने पड़े ही पड़े कहा—तुम जाओ, मेरे मकान से निकल जाओ।

युवक ने मानो सुना ही नहीं, वह उसके पास जाकर बोला—ईश्वर साक्षी है, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। परन्तु कर्त्तव्य-पालन से विमुख नहीं हो सकता। मैं तलाशी लेता हूँ।

"तब तुम मित्र होकर मेरे पति को विपत्ति में डालोगे ? मैं तुम्हारी मित्रता से घृणा करती हूँ।"

"यह तुम्हारी इच्छा, पर मैं कर्त्तव्य से पीछे नहीं हट सकता।"

युवक ने तलाशी लेनी शुरू की। धीरे-धीरे घर की तमाम सामग्री उलट-पुलट होने लगी। मैना देख रही थी। एक अभूतपूर्व विषय उसके मस्तिष्क में उदय हो रहा था। वह सोच रही थी उस वज्र-छाती और वज्र-अँगुलियों की बात। एक बार उसके होंठ हिले, बहुत धीमे स्वर से निकला—पुरुष, वज्र-पुरुष !

युवक ने सुना। उसने कहा—किस वज्र-पुरुष की बाबत सोच रही हो ?

मैना ने क्रोध से कहना चाहा 'तुम्हारी', उसने यह बात कही भी, पर क्रोध न कर सकी। वह मुख से बात निकलते ही भयभीत-सी युवक को देखने लगी।

युवक फिर अपने काम में लगा। मैना बैठ कर रोने लगी। कर्त्तव्य छोड़ कर युवक को मैना के पास आना पड़ा। उसने कहा—मुझे बहुत दुख है कि मैं आपको कष्ट देने आया हूँ, परन्तु मैं विवश हूँ। किन्तु सुन्दरी, क्या तुम इस घर और इस दशा में सन्तुष्ट हो ? हाय ! वह पति, जो इस प्रकार स्त्री को इस स्थान पर रख कर इस तरह भूल सकता है, वह तुम्हारे इतने स्नेह, विश्वास और आदर का पात्र है !

मैना ने कोध से कहा—तुम अपना काम करो, मुझसे मत बोलो; उनके विषय में बुरी बात मत बोलो।

युवक मैना के बिलकुल पास बैठ गया, किन्तु कुछ बोला नहीं।

"क्या तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा हो चुका ?"

"अभी नहीं !"

"फिर अपना काम करते क्यों नहीं ?"

"मुझे आपकी मदद की जरूरत है !"

"मेरा वश चले तो मैं तुम्हें जान से मार डालूँ !"

युवक मुस्करा कर मैना को देखने लगा। मैना ने अनसुनी हो, उधर से मुँह फेर लिया।

"एक बात बताओगी ?"—युवक ने हठात् प्रश्न किया।

"क्या ?"—मैना चमक उठी।

"तुम कितने दिन से यहाँ हो ?"

"आठ वर्ष से।"

"इस आठ वर्ष के जीवन में तुम इस आनन्द-शून्य वन-गृह में अपने पति की सहायता से एक सुन्दर—बिलकुल अपने ही जैसा सुन्दर—बच्चा भी न बना सकीं ?"

युवक के होठों और नेत्रों में सिपाही को न सजने वाला रस था। मैना न जाने क्यों विचलित हो उठी, उसने कहा—इसी तरह तुम कर्त्तव्य-पालन करना चाहते हो ?

युवक अपनी धुन में था, उसने मानों कुछ सुना ही नहीं। उसने मानों स्वगत कहना शुरू किया—आठ वर्ष में आधी आयु बीत जाती है, विशेषकर विवाह के बाद स्त्री के आठ वर्ष !

मैना उठ कर दूर चली गई। वह खिड़की के पास बाहर मुँह निकाल कर खड़ी हो गई। एक नई वेदना उसके मन को मथने लगी। युवक वहीं बैठा था। वह उसके पास आई और कहा—क्या तुम विवाहित हो ?

"नहीं।"

"विवाह के बाद तुम क्या आदर्श चाहते हो ?"

"घर लौटने पर छोटे-छोटे बच्चों के प्यारे मुखड़े, पिता सम्बोधन और यह सब देख कर स्त्री का धीमा विशुद्ध हास्य, और उसके बाद गर्मागर्म स्वादिष्ट भोजन तथा स्त्री-बच्चों के प्यार में डूब कर सुख की नींद।"

"सुख की नींद"—यह शब्द बेबस होकर मैना के मुख से निकल गया। वह ज़रा हँसी और बोली—"मेरे शत्रु ! निस्सन्देह तुम्हारा हृदय तुम्हारे शरीर की तरह कठोर नहीं है। पर तुम मुझ अबला पर ज़ुल्म करने क्यों आए हो ?"

वक ने इतनी लम्बी बातें मानों सुनी ही नहीं। वह बोला—क्यों, आपको मेरा आदर्श पसन्द है ?

"नहीं, मुझे अपना जीवन पसन्द है !"

युवक उदास हुआ। उसे एक चोट लगी। वह क्रुद्ध होकर बोला—तुम्हारे इस जीवन को मैं अभी नष्ट कर दूँगा। वह फिर तेजी से तलाशी में लग गया। मैना आश्चर्य से युवक की भाव-भङ्गी देखती रही, उसने उसे रोका नहीं। झोपड़ी के एक कोने में पुरानी धूल-भरी एक आलमारी रक्खी थी। युवक ने उसे खोलने को हाथ बढ़ाया ही था कि मैना दौड़ कर आलमारी से लिपट गई। उसने कहा—इसे तुम कभी न खोलने पाओगे। यह मेरी है, इसके भीतर—ना—ना—तुम देखने न पाओगे।

मैना घुटनों के बल बैठ गई। युवक की आँखें चमकने लगीं। उसने कहा—तब इसी आलमारी द्वारा मेरा कर्त्तव्य-पालन होगा—क्यों ?

"भाड़ में जाय तुम्हारा कर्त्तव्य, इसे तुम न खोल सकोगे।"

"मैं लाचार हूँ"—उसने शब्दों के साथ ही एक झटका दिया। आलमारी का पल्ला उखड़ आया, पर युवक की इच्छा पूर्ण न हुई। डकैती का माल उसमें न था, उसमें थे बड़ी सावधानी से बनाए और धरे हुए छोटे से शिशु के वस्त्र, छोटे से जूते, कुछ खिलौने और कुछ मिठाइयाँ। एक भी वस्तु इनमें से काम न आई थी।

नारी-हृदय की गम्भीर गुप्त भावना इस तरह प्रकट हुई। युवक ने पीछे फिर कर देखा तो मैना धरती में पड़ी

रो रही थी। युवक धीरे से उन वस्तुओं को लेकर उसके पास बैठ गया। उसने कहा—समझ गया, तुम अकेली जो कुछ बना सकती थीं, बना कर बैठी हो; पर वह प्रेम की पुतली अभी तक नहीं बना सकी हो, क्यों ?

मैना ने रोकर कहा—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम्हारे कर्त्तव्य को मैं पूर्ण किए देती हूँ, तुम भले ही मेरा और मेरे पति का सर्वनाश कर दो; मगर मेरी इस लालसा, इस अभिलाषा को किसी पर प्रकट न करो। चलो, मैं तुम्हें चोरी का माल बताती हूँ।

युवक चकित हो गया। वह नम्रतापूर्वक खड़ा हो गया। मैना ने वे तमाम वस्तुएँ जल्दी से जला कर ख़ाक कर डालीं। इसके बाद उसने युवक की कमर से उसकी तलवार खींच ली। युवक ने बाधा न की। नङ्गी तलवार हाथ में ले मैना युवक की ओर बढ़ी, युवक निश्चल खड़ा रहा। क्षण भर दोनों की दृष्टि मिली। मैना ने कहा—शत्रु ! क्या प्रमाण बिना पाए न टलोगे ?

"नहीं।"

मैना तलवार लिए और आगे आई। कुछ देर दोनों के नेत्रों ने युद्ध किया। धीरे-धीरे मैना के नेत्र, गर्दन और सिर झुकने लगे, वह ख़ुद भी झुकी। घुटनों के बल बैठ कर उसने तलवार की नोक पृथ्वी पर, युवक के पैरों के पास, फ़र्श के पत्थर की कोर पर गाड़ कर कहा—यह लो प्रमाण !

युवक ने सिंह की तरह उछल कर तलवार छीन ली। तत्काल पटिया उखाड़ डाली गई और चोरी का प्रायः समस्त माल बरामद हो गया।

प्रसन्नतापूर्वक युवक ने गठरी बाँधी, उसने प्रफुल्ल नेत्रों से मैना की ओर देखा—मैना रो रही थी। एक अन्त-र्वेदना युवक के हृदय में उदय हुई, उसने कहा—सुन्दरी, इस सहायता के बदले तुम क्या इनाम चाहती हो?

मैना ने रोना रोक कर कहा—मुझे मालूम है कि राज्य की तरफ़ से आज्ञा निकली है कि जो कोई मेरे पति को गिरफ़्तार करेगा, या चोरी का माल बरामद करेगा, उसे बड़ा ओहदा मिलेगा, इनाम भी मिलेगा। कितने अफ़सर यहाँ आकर यहाँ से रोते गए हैं; पर तुम जाओ, ओहदा बढ़ाओ और इनाम लो। हमारा सर्वनाश हो, कोई चिन्ता नहीं; मुझे उसका विशेष दुख नहीं; पर यदि तुम—लौह-युवक—मेरा एक अनुरोध मानो, मुझे बदला ही देना चाहो, तो मैं तुमसे कुछ माँगूँ?

"पति की क्षमा-प्रार्थना छोड़ कर; क्योंकि वह मेरे बस की बात नहीं।"

"मैं वह नहीं माँगूँगी। जब तुम्हारा ओहदा बढ़ जाय, तब बड़े अफ़सर की बढ़िया पोशाक पहन कर एक बार विवाह से पहले मेरे सामने हो जाना। मैं अब से तब तक उस रूप में तुम्हें देखने को तरसती रहूँगी। तुम्हें देख कर

मैं समझूँगी कि आठ वर्ष तन-मन से जिसकी सेवा धर्म और ईश्वर के सामने की, उसके प्रति विश्वासघात करके कुछ पाया तो।"

मैना और कुछ कह न सकी, झरझर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

युवक ने सुना, समझा, रुका, पर अन्त में धीरे-धीरे गठरी लेकर घर से बाहर हो गया।

५

रात के १० बजे नन्दू झूमता-झामता और बड़बड़ाता आया। आते ही चारपाई पर पड़ गया। पड़े ही पड़े उसने स्त्री से अपने कपड़े उतारने और पैरों की धूल झाड़ देने के लिए कर्कश स्वर में हुक्म दिया।

मैना जब यह सेवा कर चुकी, तो उसने नन्दू से खाने के लिए पूछा। नन्दू ने खाने से इन्कार करते हुए दो-चार असभ्य गाली बक कर कहा—बाएँ हाथ में बड़ा दर्द है, ज़रा तेल की मालिश तो कर दे। मैना अन्य-मनस्क भाव से उठी। आस्तीन ऊँचा कर तेल मलने लगी। बाँह पर हाथ फेरते ही उसे ढीली-ढाली मैली दुर्गन्धित देह कुछ अप्रिय-सी प्रतीत हुई। हठात् उसे युवक की वज्र-बाहु और वज्र-उँगलियों का स्मरण हो आया। वह अनमने भाव से शिथिल उँगलियों से तेल मालिश करने लगी।

नन्दू गर्मा उठा, उसने कहा—क्या हाथों का दम ही निकल गया है, जरा अच्छी तरह क्यों नहीं मालिश करती ?

मानों मैना ने सुना ही नहीं। उसका हाथ और भी शिथिल हो गया। नन्दू ने मैना को लात जमा दी। मैना ने तेल के पात्र में एक ठोकर देकर सिंह की तरह गर्ज कर कहा—अपनी इस देह को खुद सम्हालो, तुम्हारी बाँदी नहीं हूँ। कभी दर्द, कभी रोग, भाड़ में जाय, यह सब मुझसे न होगा।

नन्दू चकित हुआ। आज मैना का यह बिलकुल नया साहस कैसा ? क्रोध से उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया। नन्दू उठा, उसने मैना से कहा—तेरा यह साहस, क्या तेरी शामत आई है ?

मैना ने नन्दू को ढकेल कर कहा—दूर रहो, मुझे बास आती है।

धक्का खाकर नन्दू गिरा। वह कुछ समझ ही न सका। क्षण भर बाद उसने एक बाँस की लाठी उठा ली और रूई की तरह मैना को धुन डाला। मैना धरती में गिर कर तड़पने लगी।

नन्दू ने कहा— तेल मल !

"हर्गिज नहीं"

नन्दू ने और मारा—मैना बेहोश हो गई !

६

युवक तीर की तरह ऑफ़िसर के घर की तरफ़ चला। द्वार पर आकर उसके पैर जम गए। मानों वह बेसुध हो रहा हो। वह वहीं एक ओर बैठ कर सोचने लगा। वह एक मूर्त्ति का ध्यान करने लगा। किस तरह चुपचाप उसे मैंने अपनी तलवार निकाल लेने दी, किस तरह वह धीरे-धीरे मेरी छाती तक तलवार की नोक ले आई। अगर वह उसे छाती में सुई की तरह ही घुसेड़ देती तो क्या मैं उसे रोकता ? कदापि नहीं। फिर मैं मर्द क्या हुआ। वह घाव तो हज़ार बार खाता, परन्तु आँखों के घाव का क्या किया जाय ? वह आँखों की बर्छी कलेजे में पार करती हुई धरती में बैठ गई। उसी तलवार की नोक से उसने पत्थर उखाड़, चोरी का माल मुझे दिया। शत्रु से ही शत्रु मारा गया। परन्तु यह अबला स्त्री हाथ में तलवार पाकर भी विश्वासघात न कर सकी। शत्रु को पानी पिलाया, शत्रु को शायद प्यार किया, उसे जीवन-दान दिया, और अब वह उसे एक बार बढ़े हुए ओहदे पर नई पोशाक पहने देखने के लिए अपना और अपने पति का सर्वनाश कर गई। ओह रे स्त्री !

परन्तु मैं ? अभी क्षण भर बाद मैं नवीन पदवी और वेश धारण कर उसकी आँखों की साध मिटा सकता हूँ। माता कितने उल्लास से मेरी विजय-कहानी सुनेगी। परन्तु

वह—वह कितने क्षण यह देख सकेगी। फिर वह विजय किस वीरता की है? हे परमेश्वर! क्या मैं उसके विश्वास, वीरत्व, प्रेम और स्त्रीत्व के प्रति विश्वासघात नहीं कर रहा हूँ। यही मेरा पौरुष है, धिक्कार है इस पर!

युवक गठरी को छाती से लगा कर रोने लगा। वह वहीं लेट गया।

७

प्रभात होने लगा था। चिड़ियाँ चहक रही थीं। कुटिया का द्वार धीरे से किसी ने खटखटाया। नन्दू ने आलस्य से उठ कर, झाँक कर देखा—सिपाही द्वार पर खड़ा है।

नन्दू घबरा कर मैना के पास जाकर बोला—सरकारी कुत्ता है, तू ज़रा उसे हँस-बोल कर बातों में लगाना, मैं तब तक माल इधर-उधर कर दूँ।

मैना उठी। उसने झाँक कर देखा, नन्दू को चले जाने का सङ्केत किया। नन्दू पीछे के द्वार से चला गया। मैना ने द्वार खोला, युवक भीतर आया।

मैना अचल खड़ी रही। युवक ने पोटली मैना के सामने रख कर कहा—सुन्दरी! मेरी नीचता को क्षमा करना। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे।

युवक लौटने लगा। मैना ने द्वार रोक कर कहा—तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं?

"मैं सिपाही नहीं रहा।"

"तब तुम अफ़सर हो गए ?"

"मैं साधारण मनुष्य रह गया !"

"क्या ओहदा नहीं मिला ?"

"नहीं"

"क्या अफ़सर को विश्वास नहीं आया ?"

"मैंने यह गठरी पेश ही नहीं की, मैं वैसी ही लौटा लाया हूँ।"

"क्यों ?"

"तुम्हारे विश्वास पर विश्वासघात करना शक्य न था !"

मैना ने एक बार युवक और गठरी को देख कर कहा—बुरा किया ; अब ?

"मैं गिरफ़्तार होने जा रहा हूँ—मैं कर्त्तव्य नहीं पालन कर सका, मैं साफ़-साफ़ कह दूँगा।"

युवक दो क़दम चला।

मैना ने हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—देखो ! यह कह कर अपनी कमर का वस्त्र उधेड़ डाला। कमर चोट से लोहू-लुहान थी।

"किस पशु का यह काम है ?"

"मेरे पति का !"

"वह कहाँ है ? मैं उसे ××" युवक होंठ चबाने लगा!

नन्दू मुस्कराता हुआ भीतर आया और झुक कर युवक को सलाम किया।

युवक ने कहा—नीच, कायर, पशु, अधम !

नन्दू तन कर खड़ा हुआ। उसने कहा—सरकार के आदमी हो तो गाली क्यों देते हो ?

युवक ने मैना का शरीर दिखा कर कहा—अरे नीच, तेरा यह अत्याचार ?

नन्दू हँस कर बोला—ओफ़ ! यहाँ तक तुम लोगों की घनिष्टता है। मुझे मालूम न था। तो तुम लोगों की यह पहली ही मुलाक़ात नहीं है, क्यों ? पर महाशय ! यह मेरी स्त्री है, तुम स्त्री-पुरुषों के बीच में क्यों पड़ने आए हो ? इसके बाद उसने साँड की तरह दूँकते हुए मैना से कहा—पुंश्चली अभागिनी ! भीतर जा !

मैना गई नहीं। नन्दू मारने चला। मैना युवक से लिपट गई। युवक ने तलवार निकाल कर कहा—एक हाथ भी छुआ तो सिर भुट्टा-सा उतार दूँगा।

नन्दू हाँफता-हाँफता बैठ गया, युवक ने कहा—ऐ सुन्दरी, क्या तुम मेरा प्रेम स्वीकार करती हो ? मैं तुम्हें धर्म से पत्नी बनाना स्वीकार करता हूँ। यह पशु तुम्हारे योग्य नहीं।

मैना बैठ गई, कुछ बोली नहीं। नन्दू ने कहा—पराई स्त्री को फुसलाने की तुम्हारी यह चेष्टा घृणा के योग्य है। तुम मेरे घर से निकल जाओ।

युवक ने क्रोध से अधीर होकर कहा—मैं इसे लिए जाता हूँ, तुम रोक सको तो रोको।

नन्दू उठा। युवक ने मैना का हाथ पकड़ कर कहा—चलो।

नन्दू ने हठात् लाठी का एक भरपूर हाथ युवक पर दे मारा। युवक ने हाथ बचा कर तलवार निकाल ली। क्षण-भर ही में नन्दू धरती में गिर गया। लोहू की धार बह चली। युवक मैना का हाथ पकड़ कर ले चला।

कष्ट से कराह कर नन्दू ने कहा—मैना! प्यारी मैना! आज इस तरह मेरा अन्त हुआ। तुमने १० वर्ष रात-दिन मेरी सेवा की, जैसे तुम हाड़-मांस की बनी ही नहीं हो। आज किस जादू ने तुम्हें अपने पति से इतनी दूर कर दिया। मैना! प्यारी, हाय! मैंने तुम्हें बड़ा दुख दिया। अब मैं मर रहा हूँ। पर प्रिये! तुम जाओ, सुखी रहो। परन्तु एक बूँद पानी क्या तुम अन्तिम बार अपने पति को, अपने प्यारे हाथों से न पिलाओगी, प्यारी मैना?

मैना आगे न बढ़ सकी। वह रुकी-मुड़ी—वह पति की ओर दौड़ी और रोते-रोते उससे लिपट गई। उसने शीतल जल का पात्र पति का सिर उठा कर उसके मुख से लगाया।

पानी पीकर नन्दू ने कहा—मैना! बिदा! प्यारी मैना! मैंने तुम्हें जगत् में इतना प्यार किया, जितना कोई

न करेगा। सुनो-सुनो, अन्तिम बार पास आओ, पास। मैना पति पर झुकी और क्षणभर ही में चीत्कार करके तड़प उठी। गर्म रक्त की एक और धार उठी, युवक ने देखा—अवसर पाकर नन्दू ने छुरी मैना के कलेजे में भोंक दी है।

युवक ने दौड़ कर मैना को उठाया। मूर्च्छा खुलने पर मैना ने अपने को युवक की गोद में देखा। धीरे-धीरे उसने शक्ति सञ्चय करके अपनी बाँहें युवक के गले में डाल कर कहा—मेरे प्यारे दुश्मन! आखिर इस तरह ठगे गए; परन्तु एक प्यार तो दे ही दो। मैना ने प्यासे होंठ ऊपर को उठाए। युवक के आँसुओं से भीगे मुख को दो-तीन बार चूमा और गोद में गिर गई।

नन्दू और मैना दोनों निर्जीव पड़े थे।

८

युवक ने अफ़सर के सम्मुख अपने कर्त्तव्य-विमुख होने का प्रमाण देकर १० वर्ष का कठिन कारागार प्राप्त किया।

सत्प्रण

सत्यकण

बम्बई के वैभव का ज्वलन्त प्रकाश तो सभी को देख पड़ता है। परन्तु उसके भीतर जो ज्वाला है, वह सबको नहीं देख पड़ती। वह मानव-हृदय के सौन्दर्य को जीवित सती की चिता की तरह जला कर भस्म कर देती है, और केवल धन-राशि का शुष्क एवं पापिष्ट रूप, प्रेत-छाया की तरह, अभागे मनुष्यों के पीछे हर समय हाथ धोकर पड़ा रहता है। उस प्रेतावेश में असंख्य नर-नारी नित्य घुल-घुल कर मर रहे हैं, पर उस मायावी प्रेत का प्रभाव ऐसा विचित्र है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्तिम समय तक अपने जीवन के उद्धार की प्रति क्षण आशा रखता है।

राधाचरण सहृदय और पठित युवक थे। सौजन्य, प्रेम, विवेचना और आनन्द उनका व्यक्तित्व था। संयोग से वह एक क्षुद्र वंश और दरिद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे, और एक छोटे-से क़स्बे में अपने ससुर के साथ कारबार करते थे। उनके ससुर का कारबार भी कुछ बहुत बढ़ा-चढ़ा न था। फिर उनके पिता और परिजन भी इस बात को नापसन्द करते थे। किन्तु राधाचरण अपने ससुर के

दोनों बच्चों से अत्यधिक प्रेम करते थे। उधर उनकी सास भी उन पर प्राण देती थी। राधाचरण का विवाह हुए १० वर्ष हो गए थे, पर उनके कोई सन्तान न थी। इन सब बातों के ऊपर उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार उनके ससुर से मिलते थे। वे दोनों प्रगाढ़ प्रेमी, अभिन्न स्नेही, अनन्य समालोचक और जबर्दस्त तर्क-पण्डित थे। इन सब कारणों से आधी में आधी बाँट कर दोनों आनन्द और शान्ति से कई वर्ष काट गए।

किन्तु धन-व्यवहार और कारबार में सहृदयता, मित्रता और रिश्तेदारी कैसी ? जिन ससुर जी ने राधाचरण को कन्यादान देकर कृतार्थ किया था, तथा और भी बहुत कुछ दिया था, वही अब उनसे धोबी की धुलाई तक के पैसे वसूल कर लेते थे। राधाचरण में एक मस्ती थी। वह सब तरफ़ से आँखें मूँद कर काम के समय काम और आराम के समय आराम करके, निश्चिन्त जीवन-पथ पर चल रहे थे।

एक दिन बातों ही बातों में ससुर साहब के मुँह से निकल पड़ा—अरे भई ! तुम भी मेरे हिस्से में से खा रहे हो। मैं यही सोचा करता हूँ, आख़िर तुम जाओगे भी कहाँ !

राधाचरण भोजन के बाद सीतलपाटी पर लेटे दोनों बच्चों के साथ आमोद-प्रमोद कर रहे थे। ससुर के धीमे

स्वर में निकले हुए उपर्युक्त शब्द ज्योंही उनके एक कान में होकर घुसे, त्योंही उल्लसित बालक ने उन्हें औंधा लिटा कर कहा—"जीजा जी, अन्धा भैंसा बनो।" लगभग उसी क्षण में ये शब्द उनके दूसरे कान में घुसे। इन्होंने उनके हृदय-कमल की कली-कली खिला दी और उन शब्दों ने उस खिले कमल में एक तीर का काम किया। पर राधाचरण के हास्य-उल्लास में अन्तर न आया। उन्होंने ससुर की बात की तरफ़ कान न देकर तत्काल अन्धा भैंसा बनने का आयोजन कर डाला, और दोनों बच्चे उनकी बलिष्ठ देह पर चढ़ कर घूँसों और धक्कों से उनकी थकान मिटाने लगे। उस कोलाहल और विनोद से ऊब कर ससुर जी दूसरी ओर मुँह करके सो रहे।

२

उसी क्षण राधाचरण के हृदय में एक रुदन का प्रारम्भ हुआ। पर वह रुदन अत्यन्त मूक, अत्यन्त गोपनीय एवम् अत्यन्त करुण था। राधाचरण हँसते-खेलते काम करते और प्रसन्न रहते थे; किन्तु वह वेदना—वह रुदन—उनके साथ था। अन्त में उन्होंने उस सुखी, किन्तु अपमानित जीवन को त्यागने का निश्चय किया। बच्चों के साथ हँसने में उन्हें बहुत साहस बटोरना पड़ता था।

राधाचरण की पत्नी स्त्रियों में अपवाद-रूपा थीं। उनमें रूप न था, और उसके अभाव की पूर्ति करने को उनके

पास गहने और अच्छे वस्त्र भी न थे। इन सबके स्थान पर उनमें स्वास्थ्य, कष्ट-सहिष्णुता, सन्तोष और सेवा-भाव था। वह कम से कम खर्च में अपनी बिलकुल संक्षिप्त गृहस्थी को शान्त और आनन्दित बनाए हुए थी। दोनों बच्चे उनके भाई-बहिन न थे, पुत्र-पुत्रियाँ थीं। बालिका उन्हें 'काली अम्माँ' कहती थी, और यह नाम उन बच्चों की माँ ने उन्हें सिखा दिया था। राधाचरण नए गहने उसे बनवा ही न सके थे। पहले के कुछ गहने या वस्त्र जो थे भी, उन्हें वह समय-समय पर सखियों और जिस-तिस को दे चुकी थी। तिस पर भी जो कुछ अच्छे वस्त्र और गहने उसके पास बच रहे थे, उन्हें नित्य तो क्या, त्योहारों और विशेष अवसरों पर भी न पहनती थी। प्रायः रिश्ते की बहू-बेटियों और सखियों को अपनी वस्तुओं से सजा कर वह प्रातःकाल ही से रसोई में घुसती, अनेकों व्यञ्जन बनाती और सबको खिला-पिला कर अद्भुत आत्मतुष्टि का आनन्द प्राप्त करती थी। चौका-चूल्हा, चक्की और वस्त्र धोने तक के काम वह स्वयं करती थी। वह खद्दर का ज़माना न था, पर वह खद्दर पहनती थी। और, इन सब कार्यों के लिए उसे कोई लज्जित कर सके या ललचा सके—ऐसा कौन जन्मा था? ऐसी तपस्विनी, एकनिष्ठ पतिप्राणा वह स्त्री-रत्न थी।

खेद की बात सिर्फ़ इतनी थी कि राधाचरण अपनी पत्नी को १० वर्षों में भी पहचान न सके थे। फिर भी उसका मान करते थे, उससे दबते थे। वह यह जानते थे कि पृथ्वी पर इस छोटी-सी नारी को छोड़ कर, जो रात-दिन प्रतिक्षण उनकी सेवा में उपस्थित है, उनका और कोई हितू, सहयोगी एवं सहायक नहीं है।

इस अद्भुत नारी में जहाँ उपर्युक्त स्वाभाविक गुण थे, वहाँ उच्चकोटि की विद्या भी थी, और थी प्रत्येक विषय पर विवेचना की शक्ति। इस विद्या और उन गुणों के मिश्रण से उसमें आत्मनिष्ठा और साहस का व्यावहारिक रूप उत्पन्न हो गया था, जो उसके नित्य-जीवन के छोटे-बड़े कार्यों में प्रत्यक्ष देख पड़ता था।

राधाचरण ने हठात् एक बार अपनी पत्नी से कहा—क्या हम इसी प्रकार दरिद्र बने रहेंगे ?

"इसमें हमें क्या कष्ट है ?"

"सुख ही क्या है ?"

"दुःख ही क्या है ?"

"यह छोटा-सा घर, ये मोटे-झोटे वस्त्र, यह टूटी खाट ! अपने हाथ से काम-धन्धे में दिन-रात बिताना—यह देख कर मुझे बड़ा कष्ट होता है।"

स्त्री ने हस कर कहा—वाह, यह अच्छी दिल्लगी है। काम करती हूँ मैं, कष्ट होता है तुम्हें। कहीं

यदि तुम्हें काम करना पड़ गया, तो फिर बेहोश ही हो जाओगे।

"तुम चाहे जितना हँसो, पर मैं तुम्हें इस तरह दासी न बना रक्खूँगा ?"

"दासी किसकी ?"

"घर की"

"तब क्या बनाओगे ?"

"रानी"

"अच्छी बात है। पर अब इस घर की रानी कौन है ?"

राधाचरण निरुत्तर हुए। वह हँस पड़े। रमणी-रत्न ने बहुत अधिक मधुर स्नेह के स्वर में कहा—लिप्सा और तृष्णा को मन में कभी मत आने देना। तृप्ति और शान्ति बड़ी सुन्दर वस्तुएँ हैं। हमारी आवश्यकताएँ कम हैं, हम अभी इससे भी कम खर्च में गुज़र कर सकते हैं। क्यों हम प्रपञ्च में पड़ें—क्यों हम लिप्सा में गिरें ?

राधाचरण ने ज़रा उत्तेजित होकर कहा—तुम यही बात तो नहीं समझतीं। पुस्तकों में सारी बातें नहीं लिखी होतीं। मनुष्य की क़द्र धन से है, धन बिना कौड़ी के तीन हैं। प्रत्येक मनुष्य को संसार धन की तराज़ू पर तोलता है। जो धन में भारी है, वह भारी है। जो हलके हैं, वही हलके हैं।

स्त्री ने जल्दी से कहा—हलके ही सही, इसमें हर्ज ही क्या है ?

"मैं ग़रीब नहीं रह सकता।"

"क्यों ?"

"मेरी मर्ज़ी।"

"पर मर्ज़ी का कारण भी तो कुछ हो ?"

"सबके पास मोटर हैं, बड़े-बड़े महल हैं, दास-दासी हैं, फ़र्स्ट-क्लास में सफ़र करते हैं, बिजली के पङ्खे में बैठते हैं, सैकड़ों लोगों पर हुकूमत चलाते हैं। तुम अपने घर में बैठी-बैठी इन्हें नहीं देख सकतीं न ?"

"तुम देखते हो, देख कर क्या सोचते हो ?"

"मेरे भी यह सब हों, तो कैसा अच्छा ?"

रमणी ने ज़रा सा चुप रह कर उससे कहा—अच्छा क्या ?

"उसी ठाठ से मैं भी रहूँगा ?"

स्त्री ने हँस कर कहा—अच्छी बात है, रहो।

"तुम्हें रानी बना कर रक्खूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

"हीरों से लाद दूँगा—ज़रूर लाद दूँगा।"

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा।"

"क्या तुम हँसी समझती हो ?"

"तुम्हारी आज्ञा हो, तो"

राधाचरण उठ कर बैठ गए। बोले—मैंने निश्चय कर लिया है कि अगले सोमवार को बम्बई जाऊँगा। ईश्वर जो करेगा, सो होगा।"

"सचमुच ?"

"तभी तो मैं कह रहा था।"

"पिता जी को कितना दुःख होगा ?"

"कुछ न होगा।"

"क्या उनसे चर्चा हुई थी ?"

"हुई थी।"

"क्या हुई ?"

"सब हिसाब-किताब साफ़ कर दिया है। आज से वही सब काम-धन्धे के मालिक हैं।"

"क्या यहाँ तक ?"

"तभी तो।"

"बुरा किया।"

देवी के मुख पर विषाद की रेखा आ गई। राधाचरण के मुख से एक बात व्यग्र होकर निकलने चली, पर उसे रोक कर उन्होंने कहा—मेरे मन में खूब उत्साह है। मैं सफल होऊँगा, मैं रुपयों का ढेर लगा दूँगा। मगर मुझे भेजने का प्रबन्ध तुम्हें करना होगा ?

"मुझे ?"

"हाँ, क्या तुम्हारे पास कुछ रुपए नहीं हैं ?"—राधाचरण ने व्यग्र होकर पूछा।

"रुपए कुछ हैं, पर बहुत थोड़े। लेकिन क्या दूकान से नहीं मिलेंगे ?"

"न"

"क्यों ?"

"दूकान का तो हिसाब-किताब चुकता कर चुका।"

"तब रुपए तो तुम्हें मिलेंगे न, तुम्हारे हिस्से के तो रुपए जमा हैं।"

"एक पैसा भी नहीं।"

"यह क्यों ? क्या पिता जी देते नहीं ?"

"वह देते तो थे, पर मैंने नहीं लिए। उन्होंने अब तक अपने हिस्से में से खिला-पिला कर हम लोगों का पालन किया है। अब हम लोग क्या दूकान में हिस्सा बटावेंगे ? उनके बच्चे हैं, परिवार है, वह वृद्ध हैं। हम लोग तो और कमा लेंगे ?"

राधाचरण की आँखें भर आई थीं और कण्ठ-स्वर काँपने लगा था, पर उनकी पत्नी इसे भाँप न सकी। वह ज़रा चिन्तित हो गई थी। राधाचरण तुरन्त ही सम्हल कर हँस पड़े, और हँस कर कहा—मैं तो समझता था तुम्हारे ख़जाने से काम चल जायगा।

पत्नी ने धीर-भाव से कहा—मेरे पास ६५) हैं।

"बहुत हैं।"

इसके बाद दोनों कुछ देर चुप रहे। दोनों मग्न होकर कुछ सोचते रहे। स्त्री ही ने बात छेड़ी—

"तब यह घर छुटा ?"

राधाचरण को चोट लगी। वह पत्नी की ओर देखने लगे।

वह फिर बोली—इन बच्चों का पालन क्या अम्माँ से होगा ?

"ये भी चलेंगे।"

"और, ये ६५) क्या काफ़ी हैं ?"

"ईश्वर भी तो है।"

"ईश्वर तो रुपया नहीं ?"

"रुपयों का दाता तो है।"

"एक तुम्हीं तो माँगने वाले नहीं हो, वहाँ तो बहुत हैं।"

"मुझे वह जानता है, मेरी उसे चिन्ता है।"

इसके बाद उन्होंने कहा—चिन्ता की कोई बात नहीं। मैंने कई मित्रों को पत्र लिख दिए हैं। चलती बार तार दे दूँगा। बहुत सहायता मिलेगी। एक बार गोता लगाऊँगा; देखूँ, कितने रत्न हाथ आते हैं।

पत्नी की वाणी गद्गद हो गई। उसने कहा—क्या पिता जी से नाराज़ हो गए हो ?

अस्वाभाविक तत्परता से राधाचरण ने कहा—पागल हो गई हो क्या ?

"फिर एकाएक यह क्या सोचा ?"

"बिलकुल ठीक। जीवन का मध्यकाल परिश्रम और सञ्चय का है। मैं करूँगा—एक बार मैं अवश्य धनी बनूँगा।"

पत्नी ने गम्भीर कम्पित स्वर में कहा—परन्तु यह धन-लिप्सा जीवन के सभी आनन्दों को नष्ट कर देती है। हम लोग तो यहाँ बहुत अच्छे थे।

"यह हम लोगों का भ्रम है। अभी हमें बहुत सुखी होना है।"—इतना कह कर राधाचरण ने प्यार से पत्नी का हाथ पकड़ लिया। कुछ क्षण मौन वार्तालाप हुआ। दोनों एक-दूसरे की कल्याण-कामनाओं की विचार-धाराओं का प्रवाह दौड़ाने लगे। पत्नी ने कहा—"तब सोमवार को ज़रूर जाओगे ?"

"ज़रूर।"

"अकेले ?"

"वहाँ जाने पर सब ठीक-ठाक करके मैं तुम्हें बुला लूँगा।"

× × ×

उन्हीं ६५) रुपयों को लेकर राधाचरण प्रातःकाल मेल-ट्रेन से बम्बई रवाना हो गए। साथ में एक बिस्तर और कुछ पहनने के वस्त्र-मात्र थे।

३

राधाचरण ने पत्र लिखा—

"प्रिये !

आज बम्बई आए ८ दिन बीत गए। ६५) रुपए छाती में इस तरह छिपा कर रक्खे हैं, जैसे हिन्दू, जवान विधवा बेटी को रखते हैं। ट्राम में भी इकन्नी खर्च नहीं करता। पैरों में छाले पड़ गए हैं। एक मित्र के घर सोता हूँ, दूसरे के घर रोटी खाता हूँ। दोनों अवज्ञा करते हैं। पर इस बात पर विचार करने का अवसर नहीं। कोई भी मकान पाँच मञ्ज़िल से कम नहीं। सभी में लोग ठसाठस भर रहे हैं। मोटरों के मारे नाक में दम है। ज्वलन्त बिजली कभी रात होने ही नहीं देती। रुपया मानों वृक्षों में फल रहा है। जड़िन मिर्च, पोदीना-चटनी बेचती है, पर उससे १००) का नोट भुनाया जा सकता है। आह, क्या लक्ष्मी का निखरा सौन्दर्य है ! देखते-देखते जी नहीं भरता। सुना था, लक्ष्मी चञ्चला है। पर यहाँ तो उसका पीहर है। यहाँ वह नङ्गी नाच रही है। चोर, उठाई-गीरे, लम्पट-लुच्चे भी यहाँ अनगिनती हैं। लक्ष्मी पर ये भी तो लट्टू हैं। मन में उत्साह आ रहा है। देखो, लोग कैसी तेज़ी से जा रहे हैं, मानों सभी ने ताक़त की दवा खा ली है। कोई भी तो सुस्त नहीं बैठा है। स्त्रियों को देखो, वक्षस्थल से ऊपर किसी के पास भी तो सोना नहीं, हीरे-मोती हैं। मैं मूर्ख

अब तक वहाँ पड़ा रहा। देखो, कैसा हाथ-पैर मारता हूँ। निश्चय विजय करूँगा। उद्योग, पराक्रम, साहस और धैर्य—चारों ही बातें मेरी नस-नस में हैं। फिर अब और क्या चाहिए। अच्छा, शेष फिर!

तुम्हारा

××××"

६ दिन बाद उत्तर मिला—

"पूज्य पतिदेव,

आप-जैसे व्यक्ति को लक्ष्मी पर ऐसा मोह देख कर मन में कौतूहल उत्पन्न होता है। रह-रह कर जी चाहता है कि कहूँ—प्यारे! लौट आओ—'टूटी खटिया, टूट छपरखट टूटा गेह, पिय के सङ्ग उसखवा सुख कर लूट'। स्वामी! सभी चमकीली चीजें सच्ची नहीं होतीं। रात्रि अन्धकार-पूर्ण है; पर शान्ति और आनन्द उसी में अधिक है। आपसे क्या कहूँ! क्या कर रहे हो, सो लिखना।

आपकी दासी

××××"

४

छोटा-सा कमरा था, पर शृङ्गार और ठाठ के सभी सामानों से भरा-पुरा। कमरे की दीवारें रोग़न से रँगी और छत सुनहले काम से जगमगा रही थी। बढ़िया शृङ्गारदान पर दर्जनों देशी-विलायती सुगन्ध-द्रव्य शीशियों में धरे थे,

जिनको कसी हुई डाटों की ज़रा भी परवा न करके सुगन्ध कमरे भर में फैल रही थी। दो मखमली कोच और ३-४ बढ़िया कुर्सियाँ करीने से रक्खी थीं। ज़मीन पर विलायती कारपेट, और आधे भाग में सेमर की रुई का हाथ-भर मोटा गद्दा। उस पर निर्मल चाँदनी और चुनी हुई मसनदें अधूती-सी धरी थीं। एक कोने में लोहे का स्प्रिङ्गदार विशाल पलँग था, जिस पर चमकते हुए पीतल के डण्डों पर रेशमी छपरखट झूम रहा था। इस पलँग पर एक क्षीणकाय महिला महीन रेशमी साड़ी में अपना निस्तेज मुख ढके पड़ी हुई, कठिन संयम से अपनी शरीर-वेदना और मन की विकलता के छिपाने का अभ्यास कर रही थी।

अन्त में धैर्यहीन होकर उसने दासी को पुकार कर कहा—क्या बाबू जी अभी नहीं आए ?

"जी नहीं !"

"रसोई हो चुकी ?"

"जी हाँ !"

"रसोइए से कह दो, रसोई रख कर चला जाय।"

"किन्तु आप कुछ×××"

"मुझे आज भूख नहीं।"

रोगिणी ने कष्ट से साँस ली, और मुख फेर लिया।

कुछ क्षण बाद हाथी के समान भारी पद-ध्वनि करते हुए गृह-स्वामी ने घर में प्रवेश किया। यह बाबू राधाचरण

थे। अब से दो वर्ष पूर्व इनके मुख पर जो लाली थी, वह ग़ायब हो चुकी थी। उसके स्थान पर निस्तेज पीत छाया नेत्रों की गहराई तक घुस गई थी। परन्तु उनके अस्वस्थ थके हुए सूखे होंठ हँस रहे थे। उन्होंने बहुमूल्य रेशमी कोट एक तरफ़ फेंक कर नौकर को आवाज़ दी, और उसके आने पर बूट खोलने का आदेश दिया। फिर वह अपनी नोटबुक हाथ में ले कुछ हिसाब में डूब गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने जेब से नोटों का मुट्ठा निकाल कर सावधानी से गिना, और तिजोरी खोल उसमें रख दिया। इसके बाद हँसते हुए पत्नी के पास पहुँच कर बोले—आज तो तुम अच्छी जान पड़ती हो।

"हाँ, आज जी हलका है।"

"पर, तुम पड़ी ही रहती हो, यह बुरा है।"

"तब बाज़ार ले चला करो, रुई और अलसी के सौदे कर लिया करूँगी।"

राधाचरण ज़ोर से हँस कर बोले—तुम ? इसके लिए मैं काफ़ी हूँ। आज सात हज़ार कमाए। अभी तिजोरी में रख आया हूँ। ये लो वे कड़े। बदमाश ने १,५००) से कम ही नहीं लिए। दाम तो कुछ अधिक ज़रूर देने पड़े हैं; पर हैं ये बहुत बढ़िया।

राधाचरण ने जड़ाऊ कड़ों का मखमली बॉक्स निकाल कर पत्नी के हाथ में दे दिया।

पत्नी ने लिया और बिना ही देखे सिरहाने धर कर कहा—अब भोजन कर लो, रसोइया अभी गया है। उसका बच्चा बीमार है।

राधाचरण क्रुद्ध होकर बोले—वह बड़ा हरामखोर हो गया है। जरा देर नहीं ठहरा जाता, ठण्डा खाना मैं नहीं खा सकता।

"सदा तो वह २-३ बजे तक बैठा ही रहता है। आज मैंने ही उसे कहा था, वह चला गया। नाराज न हो। मैं यहीं मँगाती हूँ। मेरे पास बैठ कर खाओ, मैं देखूँगी।"

स्त्री की आवाज लड़खड़ाने लगी। क्षण भर को राधाचरण ने देखा, पर फिर वह एक कुर्सी खींच जम कर बैठ गए। नौकर को वहीं खाना ले आने का आदेश दे दिया।

भोजन समाप्त करते ही राधाचरण झटपट कपड़े पहनने लगे।

पत्नी ने कहा—क्या कहीं जा रहे हो?

"हाँ, जरा शेयर-बाजार में होकर आता हूँ।"

"थोड़ा आराम न करोगे?"

"नहीं, काम बहुत जरूरी है।"

राधाचरण चले गए। रोगिणी चुपचाप एकटक देखती रह गई। दासी ने कहा—अब आप कुछ खा लें।

"नहीं, मेरी इच्छा कुछ खाने की नहीं है।"

५

"देखा, जो-जो मैंने तुमसे पहले कहा था, वही-वही हुआ।"

"क्या-क्या हुआ ?"

"तुम रानी बन गईं, हीरे-मोती से लद गईं। मैं मोटरों में घूमता हूँ, मैं धनी हूँ, मेरे पास सब कुछ है। चलो, अब ज़रा देश चलें। लोग देखें भी तो, इसीलिए तो ठाठ जुटाए हैं।"

"इतने ही दिन में यह हो गया ? दिन स्वप्न की तरह बीत गए !"

"मैंने कहा था—मर्द तो वही, जो धरती में लात मार कर लक्ष्मी निकाले। तुम्हारा पति कैसा मर्द निकला। कहो, अब बहस करोगी।"

"नहीं, तुम देखते ही हो। अब मुझमें उतनी शक्ति नहीं है। बात करते जी घबराता है, और हरारत बढ़ जाती है। खाँसी भी दम नहीं लेने देती।"

"पर तुम दवा भी तो ठीक-ठीक नहीं खातीं। मुझे तो फ़ुर्सत नहीं मिलती। तुम ज़रा शरीर का ध्यान रखतीं, तो अब तक क्या पड़ी रहतीं ? वास्तव में तुम बड़ी आराम-तलब हो गई हो।"

"रानी होकर भी आराम न करूँ ? ये पलँग और दास-दासी फिर क्या होंगे ?"

"मैं काम करने को थोड़े ही कहता हूँ। मैं कहता हूँ, दिन-भर पड़े रहना अच्छा नहीं। ज़रा मोटर लेकर घूम आया करो। दूसरी मोटर इसीलिए तो मैंने ली है ?"

"अच्छी बात है, पर तुम देश जाने को कह रहे थे न ?"

"हाँ !"

"तब, चलो। सम्भव है, वहाँ हवा बदलने से तबियत सुधर जाय। तुम भी तो पीले पड़ रहे हो।"

"पर मैं तो एक महीने बाद जा सकूँगा। सीज़न सामने है, बाज़ार तेज़ी पर जा रहा है। ईश्वर ने चाहा, तो इसी महीने में तीन-चार लाख की बाज़ी हाथ आवेगी। तब तुम ऐसा करो—तुम घर चलो, मैं एक महीने बाद आता हूँ।"

स्त्री चुप रही। पति को छोड़ कर अकेली जाने का प्रस्ताव सुन कर पत्नी का उत्साह ठण्डा पड़ गया। उसने कहा—तब एक मास बाद ही सही, ऐसी जल्दी क्या है।

"यही तो बात है, तुम्हारी ज़िद ही तुम्हें ठीक नहीं होने देती। मैं कहता हूँ, मुझे काम है। तुम गले क्यों पड़ती हो। घर चलो, तन्दुरुस्ती ठीक हो जायगी, ज्वर भी छूट जायगा। मैं काम खत्म करके आता हूँ।"

"मैं नहीं जाऊँगी।"

"तुम्हें जाना होगा।"

गृहिणी की आँखों में आँसू भर आए। राधाचरण उठ कर चले गए। दूसरे दिन पत्नी नौकर के साथ रिज़र्व फ़र्स्ट क्लास में भेज दी गई। स्टेशन तक भेजने राधाचरण गए थे। उनके दिमाग़ में सौदे घूम रहे थे, और गृहिणी का कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। गाड़ी ने सीटी दी। गृहिणी ने हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाया, और धीरे से कहा—"मैं तो अब बम्बई से चली।" राधाचरण के हृदय में मानों तीर लगा। वह दो क़दम गाड़ी के साथ दौड़े। दो मोती उन्होंने टपकते देखे। गाड़ी क्षण-भर में आँख से ओझल हो गई।

६

राधाचरण उन्माद-ग्रस्त से बैठे मुनीमों और गुमाश्तों को अनाप-शनाप गालियाँ बक रहे थे। द्वार पर ५०-६० दलाल खड़े दिवालिया, झूठा, बेईमान कह कर हल्ला मचा रहे थे। पुलीस उन्हें डण्डे मार-मार कर खदेड़ रही थी। आज राधाचरण की तक़दीर का फ़ैसला हो गया था, आज बाज़ार उलट गया था। रात तीन-चार लाख पर हाथ मारने का निश्चय करके सोए थे। रात ही रात में एक जापानी फ़र्म ने ग़ज़ब ढा दिया। आज राधाचरण को साढ़े चार लाख रुपए १० बजे से पहले चुका देना था। रुपया सब लग रहा था, नक़द न था। बैङ्कों में मुद्दती हुण्डियाँ या स्टाक जमा थे, नक़द पैसा भी न था।

आज वह भुगतान न कर सके, बाज़ार में हलचल मच गई। राधाचरण सभी की ज़बान पर थे—झूठा, दिवालिया, चोर, बेईमान—इन उपाधियों की वर्षा हो रही थी। उसी डाक में उसी दिन उन्हें उनकी पत्नी का पत्र मिला। पत्र में लिखा था :—

"पूज्य स्वामी जी !

आज २२ दिन व्यतीत हो गए। एक क्षण को भी ज्वर नहीं दूर होता। डॉक्टर कहता है, तपेदिक़ है। खाँसी रात को भयानक कष्ट देती है। कुछ भी खाया-पिया नहीं। प्रतिक्षण आप में प्राण अटके हैं। क्या आपका काम अभी समाप्त नहीं हुआ ? न हुआ हो, तो भी अब तो तत्काल चले आइए। रुपए तो आपकी ठोकर में हैं, आप कुछ ठहर कर कमा लेंगे। इस बार मुझे बचाइए। मैं सुनती हूँ, तपेदिक़ का मरीज़ बच नहीं सकता। क्या मैं भी न बच सकूँगी ? फिर आपकी सम्हाल कौन करेगा ? परिश्रम और चिन्ता से आप आधे हो रहे हैं। किसे आपकी फ़िक्र होगी। आपके लिए मेरा बचना ज़रूरी है। डॉक्टर का कहना है कि सदैव बन्द मकानों में रहने, खुली वायु का सेवन और परिश्रम न करने से यह रोग हुआ है। यहाँ तीन साल बाद धूप देखी है। कैसी सुन्दर है। झूमते हुए नीम के वृक्ष का झोंका कैसा प्रिय मालूम देता है। उस बिजली के पङ्खे में यह कहाँ था। प्राण सञ्जीवन हो रहे हैं ; मगर पापी ज्वर

नहीं टूटता—नहीं टूटता। सुबह से शाम और शाम से सुबह प्रतीक्षा करती हूँ, नहीं टूटता। तब क्या यह तपेदिक़ ही है ? मेरे अन्तःकरण में कँपकँपी उत्पन्न होती है। उस दिन मैंने स्वप्न देखा था—वही आला, जिसे माता जी देव-स्थान कहती थीं, मेरे सिरहाने है। उसमें एक सुन्दर स्त्री-मूर्ति उदय हुई। उसने कहा—दुखी न होना। दो मास का कष्ट है; आज अमावस्या है। इसके बाद आँख खुल गई। अमावस्या ही मेरी जन्म-तिथि है। अब आगामी अमावस्या किस प्रकार मेरा कष्ट मोचन करेगी, यह जानने को प्राण व्याकुल हैं। स्वामी ! आपके बिना आए यह व्याकुलता नहीं दूर होगी। आप पूज्य, गुरु और महान् हैं। धन का ध्यान इस समय छोड़ने को कहूँ, तो धृष्टता न समझना। इच्छा होती है, लिखे ही जाऊँ; पर अब शक्य नहीं। उँगलियाँ ऐंठ गई हैं, कमर टूट गई है। अब एक क्षण भी नहीं बैठ सकती। स्वामी ! नमस्ते !

दर्शन की प्यासी

दासी"

उसी क्षण राधाचरण ने उत्तर लिखा :—

"प्रिये !

तुम जियो। मैं आता हूँ। वह धन आज उसी तरह गया, जैसे आया था। अभी दिवाले की दरख़्वास्त देने जा रहा हूँ। वह स्वप्न नष्ट हो गया। अब हम फिर जाग कर

अपने दरिद्र घर में सुखी होंगे। मैं उस डॉक्टर को मार डालूँगा, जो तुम्हें तपेदिक़ बताता है। उसका इलाज तत्काल बन्द कर दो। मैं तुम्हें पहाड़ ले चलूँगा, पर रुपए नहीं।

मैंने ससुर जी को हार कर लिखा है। हाय! इस क्षण पतन हुआ। वह १००) भेज देंगे, ऐसी आशा है। चिन्तित न होना। एक सप्ताह में सब ठीक-ठाक करके आ रहा हूँ।

तुम्हारा अधीर,

रा० च०"

७

ज्वलन्त ज्येष्ठ बीत रहा था। पृथ्वी पर सर्वत्र आग बरस रही थी। राधाचरण पत्नी को जङ्गल में, एक पर्णकुटी में, लिए अकेले बैठे थे। राधाचरण की गड्ढे में धँसी आँखें, मलिन वेष और सन्तप्त हृदय करुणा की मूर्ति बन रहा था। उनकी पत्नी का वह बलिष्ठ शरीर अस्थि-पञ्जर-मात्र था। वह शय्या में सिकुड़ी पड़ी, नेत्र बन्द किए, अपने श्वास के कष्ट को सहन कर रही थी। ज्वर से शरीर जल रहा था। लू के झोंके रह-रह कर तड़पा रहे थे। विकल होकर रोगिणी ने हलकी सी साँस ली, नेत्र खोल कर पति की ओर देखा और कहा—क्या पहाड़ जाना सम्भव नहीं?

"नहीं!"

"रुपए नहीं आए ?"

"नहीं !"

"जवाब नहीं आया ?"

"आया"

"क्या लिखा है ?"

"कुशल-सम्वाद पूछा है।"

राधाचरण आगे प्रश्नोत्तर न बढ़ा कर उठे। रोगिणी ने रोक कर पूछा—कहाँ चले ?

"और थोड़ा पानी कुएँ से खींच कर टट्टियाँ तर कर दूँ।"

"दिन भर पानी खींचते रहे हो।"

"टट्टियाँ सूख गई हैं, गर्म हवा आ रही है।"

रोगिणी ने सूखे हाथ उठा कर पति का हाथ पकड़ा। वह रस्सियों के घावों से परिपूर्ण था। रोगिणी चुपचाप उस हाथ पर सिर रख कर रोने लगी। राधाचरण भी रोए।

रोगिणी ने कहा—"स्वामी, इतना कष्ट क्यों ? जब मेरा राज्य था, तब मैं एक गिलास जल भी तुम्हें न लेने देती थी। वह मेरा राज्य तुम्हें न भाया। तुम्हें तब मैं मलिन वेष में अपने दरिद्र घर की रानी न जँची—तुमने हीरे-मोती की रानी बनाना चाहा। उस दिन तुमने कहा था—मेरा उद्देश्य सफल हुआ। अब सफल होकर, इस

हीरे-मोती की रानी के राज्य में तुम दिन भर कुएँ से पानी खींच-खींच कर रानी के दाह को कम करने का प्रयत्न कर रहे हो ! स्वामी, तुम्हारे हाथों में घाव हो गए, मुँह सूख गया। बैठे रहो ! गर्म हवा अब मुझे कष्ट नहीं देती। आओ, अब हम अपने पुराने छोटे से जीवन की याद करें।

अधीर होकर राधाचरण ने कहा—मुझे वहीं ले चलो।

"बनता, तो ले जाती।"

"तुम्हें बचाऊँगा।"

रोगिणी के होठों पर मुस्कान आई और आँखों में आँसू। उसने कहा—जीवन, स्वास्थ्य और शान्ति पृथ्वी की सबसे बड़ी वस्तु हैं। लाखों मनुष्य इनकी गणना मिट्टी के बराबर भी नहीं करते हैं। क्या समय बीतने पर पछताने से ये वापस मिल सकती हैं ? स्वामी ! तुम्हारे जैसे पुरुष धन-लिप्सा में ऐसे गिरे××××।"

"प्रिये ! तुम्हारे पिता ने मेरा अपमान किया था।" राधाचरण ने वे शब्द कह सुनाए। फिर कहा—"इन सौ रुपयों के माँगने पर उन्होंने क्या कहा, जानती हो ?"

"क्या कहा ?"

"कहा, मुझे लड़की की शादी करनी है। जब तुम्हारे पास रुपए नहीं, तो उचित है कि पहाड़ का शौक़ छोड़ दो। सभी रोगी पहाड़ नहीं जाते।" राधाचरण उत्तेजित हुए।

रोगिणी ने धैर्य से कहा—अब एक बात×××

राधाचरण देखने लगे।

"प्रतिज्ञा करो।"

"कर ली।"

"धन-लिप्सा में न गिरना, निर्धन होने के कारण अपने को तुच्छ न समझना।"

"लोग तुच्छ समझेंगे!"

"सम्भव नहीं; जब तक तुम अपने को तुच्छ न समझो, अपनी दरिद्रता को न छिपाओ, तब तक कौन अपमान करेगा?"

राधाचरण चुप रहे।

रोगिणी ने कहा—स्वामी! दासी की स्मृति में दरिद्र रहने की इच्छा सदा बनाए रखना। मेरा अनुरोध रखना ही होगा।

"मैं प्रण करता हूँ।"

"क्या?"

"मैं सदा दरिद्र होने में गर्व का अनुभव करूँगा, सम्पदा का सर्प-सौन्दर्य मुझे कभी न मोहेगा।"

रोगिणी के मुख पर हास्य की छटा देख पड़ी। उसने कहा—तुमने कहा था कि मैं सफल हुआ। मैं कहती हूँ कि मैं सफल हुई—मैं जीती।

"पर प्यारी! अब तुम्हें जल्दी आराम होना चाहिए।"

"तुमने दिल का काँटा निकाल दिया। अब मैं शीघ्र अच्छी हो जाऊँगी।"

"बहुत शीघ्र।"

"कल अमावस्या है, ईश्वर कष्ट काटेंगे।"

× × ×

अमावस्या आई। ज्वलन्त दुपहरी में साध्वी महिला की चिता धू-धू करके जल रही थी।

द्वितीया

द्वितीया

उस दिन को सिर्फ़ ४ मास और कुछ दिन व्यतीत हुए थे, इसी बीच में चन्द्रनाथ फिर से हल्दी चढ़ा और कङ्कना बाँध कर एक मुग्धा बालिका को ब्याह लाए।

बालिका का नाम था आनन्दी। आयु चौदह वर्ष, रङ्ग मोती के समान, कण्ठ-स्वर सितार की मूर्छ्छना जैसा, चाल भीता-चकिता हरिणी जैसी, उँगलियाँ चम्पे की कली के समान उत्तप्त स्वर्ण की मानों सजीव प्रतिमा। परन्तु मुख ? मुख हमने देखा नहीं। एक बात देखी—पास-पड़ोस, मुहल्ले और कुटुम्ब की, सभी जाति, आयु और स्थिति की स्त्रियाँ झुण्ड की झुण्ड उस मुँह को देखने गईं, अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार भेंट चढ़ाईं और बालिका का मुँह देखा। वे नेत्रों में रहस्य का हल्का गुलाबी रङ्ग लिए लौट रही थीं ; वह रङ्ग भला किस वस्तु की छाया थी ? उसी मुँह की !

चन्द्रनाथ ने भी सुयोग पाकर उसे देखा। उस देखने के मूल्य में उन्हें मुँह-माँगे दाम अर्थात् 'हीरों का हार' देना पड़ा। स्तब्ध रात्रि में, विमल चाँदनी में, चन्द्रनाथ ने वह उत्फुल्ल लज्जावान् मुख देखा। वे हँसे नहीं, बोले नहीं। कम्पित हाथों से घूँघट हटाया, फिर चुपचाप वैसे ही ढक

दिया और उठ कर चले आए। उस दिन वे दिन भर सोते रहे अथवा यों कहिए कि आँख बन्द किए पड़े रहे।

क्यों ? उन हीरों के मूल्य में देखने योग्य उस मुख को नेत्रों से हटा कर हृदय के गम्भीर प्रदेश में, जहाँ ऐसी अमूल्य निधि सुरक्षित रक्खी जाती है, पहुँचाने की चेष्टा में वे बहुत प्रयत्न करने पर भी विफल ही रहे थे। उस रूप की प्रभा को, जो वे आँखों में भर लाए थे, वह भीतर प्रवेश पाता ही न था। आँख खोलते ही वह बाहर खिसक कर गिरा पड़ता था। विवश चन्द्रनाथ दिन भर उस रूप-स्मृति को आँखों की पलकों में छिपाए पड़े रहे। हृत्पट न खुले या कब खुले, हमारे लिए कहना कठिन है।

एक बात और हुई, एक दिन ननद के बड़े आग्रह से काँपते-काँपते पेन्सिल हाथ में लेकर बड़े-बड़े टेढ़े अक्षरों में आनन्दी ने अपने हस्ताक्षर कर दिए थे। उन्हें उसी समय दौड़ कर बहिन ने चन्द्रनाथ के हाथ में ला धरा। चन्द्रनाथ कुछ बोले नहीं, हिले भी नहीं। जड़वत् बड़ी देर तक उन टेढ़े अक्षरों को देखते रहे। फिर उन्होंने एक बार मर्मभेदिनी दृष्टि से अबोध बहिन को देखा, और फिर मसनद के सहारे उठँग कर सो गए। बहिन भाई के हास्य का यह सुयोग खोकर और उस दृष्टि से डर कर भीतर भाग गई।

चन्द्रनाथ की अवस्था ३५ वर्ष की थी। वे इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में अङ्गरेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने

इङ्गलैण्ड से ससम्मान डी० एल० का प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया था। वे अतिशय कान्तिवान्, विनम्र, हास्यवदन, सुन्दर, बलिष्ठ, नीरोग, चरित्रवान्, गम्भीर और गण्य-मान्य विद्वान् थे। सभा-सोसाइटियों की वे जान थे, कॉलेज के छात्रों के प्रिय और मनभावन गुरु, और मित्रों में सभ्य-हास्य और सविवेक-विनोद की प्रतिमा थे।

आनन्दी थी एक दरिद्र और अपढ़ परिवार की मातृ-हीना बालिका। वृद्ध पिता का नीरस प्यार और विमाता का विष-प्यार पाकर उसने बाल-काल के दिन काटे थे। माँ को उसने देखा था, उसकी स्मृति भी उसके मन में थी। वह चाहे जब तनिक मनोवेदना प्राप्त करते ही 'माँ' कह कर रो उठती थी। चिर-परलोकगामिनी माँ के इतने निकट वह मुग्धा सुन्दरी बालिका अब भी—विवाहिता होने पर भी थी। जीवन का यह प्रबल परिवर्त्तन, सौभाग्य का यह उदय, रानियों जैसा शृङ्गार, आदर और प्यार उसे उस माँ से दूर न कर सका था!

इस प्रकार चन्द्रनाथ अपनी द्वितीया वधू से आयु में ढाई गुने अधिक, विद्या में अनन्त तक अधिक, गम्भीरता और अनुभव में सहस्र गुणा अधिक, शरीर-परिमाण में चतुर्गुण और विस्तार में त्रिगुण अधिक थे; किन्तु रूप में चतुर्थांश और हास्य-चापल्य में अष्टमांश तथा लाज में दशांश थे।

यह बालिका मेरी धर्मपत्नी है, सहधर्मिणी है, यह स्मरण करते ही और इस तथ्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालते ही प्रथम बार तो वे सहम गए थे। अब वे केवल चमक भर उठते थे।

२

इतना अधिक मूल्य चुका कर एक बार उस मुख का दर्शन करने के बाद चन्द्रनाथ फिर उसे बहुत यत्न करने पर भी न देख सके। उसकी एक किरण-मात्र देखने को उन्हें पचासों बार घर में व्यर्थ आना पड़ता, अनेक अस्वाभाविक चेष्टाएँ करनी पड़तीं, विविध हास्य-कलाओं का आयोजन करना पड़ता, जो कुसमय और अनभ्यास के कारण वीभत्स बन जातीं।

बालिका में और कुछ चाहे न हो, पर पति की इस चेष्टा को समझने की मानों दैवी शक्ति थी। वह अपने समस्त यत्न से अपने शरीर के अणुमात्र अङ्ग को भी उनकी दृष्टि से बचाने के लिए सचेष्ट रहती। चन्द्रनाथ की साध्वी माता उसका दुर्ग थीं, वह उन्हीं के अञ्चल में प्रायः छिपी रहती थी।

ममता, त्याग और प्रेम के जिन उच्च गुणों का माता शब्द में तात्विक अस्तित्व है, वह सब भौतिक रूप में इस पवित्र और पूज्य माता में था। अनाथा मातृहीना बालिका ने अचानक उनकी गोद पाकर अपने अब तक के जन्म को

कृतार्थ माना। उसे जन्म देकर जो मातृ-मूर्ति विलीन हो गई थी, वह उसे अनायास ही मिल गई। उसके लिए वही माता पृथ्वी पर उस समय सबसे अधिक घनिष्ट और सुपरिचित थी।

परन्तु चन्द्रनाथ ? उसके धर्मपति ? वे तो उससे बहुत दूर थे। उसने उस समय घूँघट के आवरण में छिप कर गुरु-जनों के आदेश-पालन से विवश होकर बड़ी कठिनाई, बड़े साहस से, अपना कण्ठकित हाथ चन्द्रनाथ के हाथ में देकर विमूढ़ की नाईं अग्नि-प्रदक्षिणा अवश्य की थी; पर वे उसके पति हैं; पति-पत्नी का सम्बन्ध क्या होता है, उसके शरीर और आत्मा पर उसके पति का हिन्दू-समाज की रूढ़ि के अनुसार असाध्य अधिकार है, यह उसे कुछ भी मालूम न था।

अलबत्ता, अपनी विवाहिता सखियों से उसने अस्पष्ट रूप में सुना था कि पतिगण विवाह के बाद कैसे असाध्य और अश्लील व्यापार करते हैं। इस बात से वह बहुत ही भयभीत, चिन्तित और घबराई थी। परन्तु यहाँ माता को पाने पर वह बहुत-कुछ निश्चिन्त हो गई थी। उसे विश्वास था—माता के रहते मुझ पर कौन अत्याचार करेगा ? किसका ऐसा साहस है ? वह दिन भर माता के साथ रहती, खाती और रात को उसी की खटिया पर सो रहती। इस विषय में उसने अपने हठ के आगे घर भर की महिलाओं को परास्त कर दिया था।

चन्द्रनाथ पूर्व-पत्नी की मृत्यु के बाद बाहर की मर्दानी बैठक में अकेले सोते थे। रात्रि में अन्तःपुर में आने का वे दिन की भाँति साहस न कर सकते थे। उनका प्रबल विवेक फिर भी जाग्रत तो था ही, पर वे अतिशय व्याकुल, अनिद्र और सन्ताप से रात काटते थे। इस विवाह से पूर्व कभी उनकी ऐसी दुरवस्था नहीं हुई थी। वे सोचते थे, १५ वर्ष पूर्व जब मेरा प्रथम विवाह हुआ था, तब वह अवसर पाते ही कैसी चितवन से घूँघट के बारीक आवरण में मुझे देखा करती थी। वह हीरे के समान सतेज दृष्टि और दुर्दम्य आनन्द से उत्फुल्ल होंठ आज भी मेरे मनोमन्दिर में वैसे ही ताजे रहते हैं। यह तो उस तरह नहीं देखती, सदैव छिपती है, जैसे हिरणी शिकारी से भय खाती है! क्या इसके हृदय में मेरे लिए प्रेम नहीं? यह मुख उसकी अपेक्षा कितना सुन्दर है? वह मुख चौदह वर्ष के काल में—सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, क्रोध-विराग प्राप्त करके कितना फीका, कितना साधारण बन गया था। उसकी अपेक्षा यह कितना नवीन, सुन्दर, मधुर, अमूल्य है? ओह! इसकी कभी सम्भावना नहीं थी। परन्तु विचार-धारा और हृदय कहाँ दौड़ा जा रहा है। ओह—ओह! वहाँ अति दूर! अरे! यह तारुण्य, यह सौन्दर्य, यह तप्त स्वर्ण-कान्ति, अरे इसमें डूब। अभागे हृदय! किस अधेड़ को यह सौभाग्य प्राप्त होता है? सौभाग्य! चन्द्रनाथ तड़प उठे। सौभाग्य शब्द

ठठा कर मानों प्रेत की तरह हँस पड़ा। वह निर्जीव, निस्पृह, निश्चेष्ट मुख अर्थहीन नेत्रों को खोल कर उन्हें देखने लगा। चन्द्रनाथ विकल होकर रोने लगे। रोते-रोते ही वे सो गए !

३

प्रातःकाल होते ही उन्होंने हठात् हरिद्वार जाने का प्रस्ताव माता से कहा। वे कुछ कह भी न पाई थीं कि उन्होंने कहा—झटपट उसके साधारण कपड़े ट्रङ्क में रख दो, गाड़ी में देर नहीं है। माता अवाक् रह गईं। वे पुत्र के और भी निकट आकर बोलीं। अकेली बहू को कैसे ले जाओगे—वह कैसे बोलेगी ?

चन्द्रनाथ ने क्रुद्ध स्वर में कहा—क्या वह गूगी है ?

क्रोध के प्रवाह को छितरा कर माता ने कहा—बेटे ! पराई बेटी है, नई आई है, बच्ची है, सीधी-सादी, एक दिन में तो सब बातें होतीं नहीं ?

चन्द्रनाथ ने कहा—तुम भी चलो।

माता चुपचाप भीतर चली गई।

बालिका ने सुना—वह थर-थर काँपने लगी। उसने कहा—अम्माँ जी ! तुम चलोगी ?

"न बेटी। तुम सैर-सपाटे में रहोगे, मेरे पैरों में इतना दम कहाँ ? फिर मेरी तबीयत भी ठीक नहीं। तुम मेरे नाम के दो ग़ोते गङ्गा जी में ज़रूर लगा आना।"

बधू ने माता के पैरों में गिर कर रोते-रोते कहा—अम्मों! उनके साथ अकेले मुझे कहीं मत भेज देना!

"बेटी! उनसे तुझे भय क्या है, वे ही तेरे रक्षक, तेरे स्वामी, तेरे सब कुछ हैं—अब तू उन्हें पहचान—उन्हें सुखी कर और सुखी हो! इससे मेरी आत्मा भी तृप्त होगी।"

बालिका कुछ भी न समझ कर बोली—नहीं, मैं न जाऊँगी।

चन्द्रनाथ ने सुन कर अपने असाध्य अधिकार का प्रयोग किया। उनकी आज्ञा की अवहेलना करने का घर भर में किसी का साहस नहीं—अधिकार भी नहीं था। घर के आबाल-वृद्ध सभी से एक यही बात सुन कर बालिका को जाना पड़ा—जिस तरह पिता के घर से यहाँ आना पड़ा था। वह सोचने लगी—ओह! स्त्री-जाति का भाग्य भी कैसा है? वह अतिशय भयभीत, अतिशय निरानन्द और अति क्रुद्ध-भाव से पति के पीछे-पीछे चली।

४

पुण्य-सलिला जाह्नवी का सौन्दर्य हरिद्वार में अद्वितीय है। वैसा मीठा, शीतल, स्वच्छ और पाचक जल गङ्गा में फिर नीचे कहीं देखने को नहीं मिलता। चन्द्रनाथ के लिए हरिद्वार नया नहीं, परन्तु बालिका आनन्दी के लिए तो सब कुछ नया था। सेकेण्ड क्लास की गद्दी-मण्डित सीट्स, बिजली का झर-झर चलता हुआ पङ्खा, स्वच्छ पाखाना,

चमचमाता डिब्बा, यह सब देख कर अबोध आनन्दी क्षण भर को अपना भय भूल कर देखती रह गई, पर जब गाड़ी चल दी और डिब्बे में मुसाफ़िरों की भीड़ न घुसी तो वह घबराई। चन्द्रनाथ जैसे दीर्घकाय और अपरिचित पुरुष के साथ एकाकी रहना ही तो उसका सबसे बड़ा भय था, क्योंकि वह जानती थी—इस व्यक्ति को मेरे शरीर पर असाध्य अधिकार प्राप्त है और यह उस सुयोग की प्राप्ति के लिए ही मुझे अकेली ले आए हैं। ननद ने रहस्य में यह बात उसे चलते-चलाते कह भी दी थी।

फिर भी आनन्दी मार्ग भर सब भय को पी गई। वह बोली नहीं—उठी नहीं, खाँसी-खखारी भी नहीं, कुछ खाया-पिया भी नहीं। चन्द्रनाथ अपना सभी पाण्डित्य, प्रौढ़ ज्ञान और महत्व खोकर—हर तरह उस बालिका की अनुनय-विनय करके थक गए। वह सिवा सिकुड़ जाने के और कोई चेष्टा न कर सकी। वह चन्द्रनाथ के बहुत अनुरोध करने पर भी पैर फैला कर सोई नहीं। वस्त्रों को और भी अच्छी तरह समेट कर बैठी-बैठी ऊँघने लगी। हताश चन्द्रनाथ अपने बर्थ पर पड़ गए।

नववधू, विवाह, एकान्त—और सुयोग सब कुछ, पर फिर भी कुछ नहीं। उन्होंने वर्त्तमान आँखें बन्द कर लीं, वे अब भूत की अनेक खट्टी-मीठी स्मृतियों को सोचते-सोचते कभी जाग्रत कभी निद्राग्रस्त होकर स्वप्न देखने लगे।

रात व्यतीत हुई, हरिद्वार में हर की पैड़ी पर एक सजे हुए मकान में चन्द्रनाथ का डेरा पड़ा। आनन्दी ने समझा, सचमुच यह तो घर है। मैं अकेली स्त्री इस घर की स्वामिनी और ये अकेले पुरुष इसके स्वामी।

अब उसे स्वामी के विषय में सोचने का अपने जीवन में प्रथम बार अवसर आया! यह स्वामी क्या वस्तु है? वही? सखियाँ रस-रङ्ग की चर्चा में जिसका ज़िक्र किया करती हैं? जो प्यार करता है, सुख देता है, वस्त्र-अन्न का दाता, रक्षक और पति है। वही है यह? इससे बोलना पड़ेगा? मुँह खोलना पड़ेगा? अपनी आवश्यकता जतानी पड़ेगी! अरे! अरे! इनसे तो भय लगता है—कितने लम्बे-चौड़े आदमी हैं। कैसा भारी मुँह है। कितना कम हँसते हैं। बालिका सोच में पड़ गई। उसने मधुर स्मृतियों को जाग्रत किया। सहेलियों की रहस्यमयी मुस्कान उसे स्मरण हो आई। उसने प्रथम बार चाव की दृष्टि से पति को घूँघट की ओट से देखा। परन्तु शोक—किस प्रबल बन्धन ने उसके हृदय को विकसित न होने दिया? वह देखती तो रही, पर दृष्टिपात के प्रारम्भ में उसके मन में जो माधुर्य था, उसे वह स्थिर न रख सकी।

चन्द्रनाथ थकित पड़े थे, पण्डे ने आकर कहा—यजमान जोड़े से स्नान होगा? मैं श्रीफल ले आया हूँ!

चन्द्रनाथ ज़रा हँसे—उन्होंने आनन्दी की ओर देखा। पण्डे से कहा—बहूरानी को राज़ी करो। मैं इसे अकेली क्या साथ लाया, आफ़त हो गई। रास्ते भर न खाया, न पिया, मिट्टी की लोढ़ी की तरह बैठी रही है।

पण्डा वृद्ध और हँसमुख था। अपने पोपले मुँह पर हज़ारों सिकुड़न डाल कर उसने कहा—सरकार, वे अभी बालक हैं, सब समझ जावेंगी, तब क्या ऐसी रहेंगी। भगवान् ने उन्हें राजरानी बनाया है—यह बात भी वे समझेंगी ही।

आनन्दी ने बूढ़े की बात को यथासाध्य समझने की चेष्टा की। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्रों को देखा 'राजरानी'! वह सोचने लगी। सच ही तो! उसने उत्फुल्ल नयनों से घूँघट ही में वृद्ध को और फिर पति को देखा।

इस बार चन्द्रनाथ की आँखों से उसकी दृष्टि भिड़ गई। शुभ-दृष्टि की रस्म अब निबटी। उन्होंने कहा—क्या कहती हो, जोड़े से स्नान करना है?

बालिका लजा कर रह गई।

बूढ़े पण्डे ने कहा—मैया! गङ्गा में जोड़े स्नान करने से सुहाग अचल रहता है—दूध-पूत से गोद भरी रहती है। तीर्थ में ऐसा सुयोग कब-कब आता है?

बालिका ने लालसा की दृष्टि से वृद्ध को देखा। चन्द्रनाथ उठे। दम्पति धीरे-धीरे कमर-कमर जल में पैठ गए।

गँठजोड़ा बँधा था। अनेक स्त्री-पुरुष हर की पैड़ियों पर विहार कर रहे थे। भगवती गङ्गा झल-झल करती लहरें मार रही थीं। आनन्दी आनन्द के उल्लास में लज्जा और सङ्कोच को क्षण भर के लिए भूल गई। पानी में कहीं डूब न जाय, इस भय से उसने कस कर पति का हाथ पकड़ लिया। अब वह गिन-गिन कर ग़ोते लगाने लगी। प्रकृत बालिका-स्वभाव और चिर-सहचर जीवन ने अस्वाभाविक बधूपन को किसी मोहमयी मदिरा के प्रभाव से दूर कर दिया। हर्षातिरेक से वह किलकारियाँ भरने लगी, चन्द्रनाथ मूढ़ बने चुपचाप बालिका-पत्नी का उल्लसित स्नान और जल-क्रीड़ा देखने लगे। पर उनके हृदय में ज्वार आ रहा था। वे न जाने क्या सोच रहे थे। इसी हरद्वार के घाट पर, इसी हर की पैड़ी पर! ओफ़ जाने दो। उन्होंने मानों नींद से चौंक कर कहा—चलो, चलो। अब अधिक नहीं! भीगी हुई केसरी रङ्ग की साड़ी को शरीर से चिपकाए, अधिकांश सङ्कोच को गङ्गा में धोकर—उत्फुल्ल होंठ और नयनों से पति को घूरती हुई आनन्दी दृढ़ता से पति की मुट्ठी पकड़े बाहर निकली।

५

चैत्र का छलकता हुआ बसन्त, उस पर हरिद्वार की सुनहरी ऋतु, दिन में ज़रा तीखी धूप, जो मन में सदैव लहरों में खेलने की अभिलाषा उत्पन्न करती है और रात

की गुलाबी सर्दी, जो मीठी नींद लाने में अद्वितीय है, चन्द्रनाथ के लिए क्षण भर को वास्तव में सुहागरात का स्वाद दे गई। आनन्दी कनखियों से देखने, मृदु-स्वर में अपनी इच्छा प्रकट करने, कभी-कभी उसी तरह स्नान का अनुरोध करने और छोटी-मोटी व्यवस्थाओं में उनका हाथ भी बँटाने लगी। फिर जब वे सन्ध्या के समय खोमचे वालों की भरपूर भीड़ में थोड़े सङ्कोच के बाद हर की पैड़ी के विशाल प्राङ्गण में आनन्द के साथ—फ़ालूदा, कुल्फ़ी की बरफ़ और दही-बड़े खाने लगे, तब चन्द्रनाथ की मानों हृद्वेदना क़तई सो गई। वे एक बार उल्लास के साथ द्वितीया पत्नी के साथ प्रमोद में लगे।

आनन्दी ने सोचा, भय की कोई बात नहीं है। ये देखने में ख़ूब लम्बे-चौड़े अवश्य हैं—जैसे हमारे पड़ोस के वे सेठ जी थे, पर वैसे बुरे मिज़ाज के नहीं हैं, हँस कर बात करते हैं, दस बार आवश्यक वस्तु की पूछताछ करते हैं, हर समय मन बहलाते हैं—फिर अपने पति तो हैं; ग़ैर तो नहीं। वह मस्तक पर रेखा डाल कर, थोड़ी गम्भीरता से सोचती, और इस प्रकार साहस और गृहिणी के गाम्भीर्य का उसके मन में धीरे-धीरे उदय होता। दो-तीन दिन बाद एक बार उसने कहा—बाज़ार की पूरियाँ आप कब तक खावेंगे, सामान लाइए तो रसोई बन जाय। चन्द्रनाथ ने चाँद पाया। जिस समय वे प्रथम बार पत्नी

के हाथ की रसोई खाने बैठे, कच्ची दाल और जली रोटियाँ सराह-सराह कर खाने लगे। धुएँ के मारे बालिका की आँखें अन्धी हो रही थीं। अकेली, बिना सरो-सामान के रसोई बनाने का यह उसका प्रथम प्रयास और प्रथम साहस था। भोजन करके चन्द्रनाथ जब थाली को रुपयों से भर कर उठे, तो आनन्दी एक बारगी ही विह्वल हो उठी। वाह! इनके बराबर प्रिय और कौन है। उस दिन उसने पति की जूठी थाली में भोजन करके एक अभूतपूर्व आनन्द अनुभव किया। और जब चन्द्रनाथ मीठी नींद ले रहे थे, वह चुपके से आई और पैरों के पास बैठ कर धीरे-धीरे पैर दबाने लगी। चन्द्रनाथ की आँखें खुलीं। देखा, पत्नी पत्नी के स्थान पर उपस्थित है। उन्होंने अधीर होकर उसे खींच कर हृदय से लगा लिया। अतिशय आनन्दातिरेक से उनका शरीर बेसुध हो गया। और फिर वे थोड़ा सचेत होते ही किसी अतर्क्य शक्ति के प्रभाव से, उस वेदना-स्थल पर शीतल स्पर्श-मरहम लगा कर फूट-फूट कर रो उठे। बहुत रोए, ज्यों-ज्यों उन्हें सुख मिलता था, उनका रुदन फूटता था। उस रुदन के अज्ञात कारण को न जान कर, आनन्दी बहुत घबराई। उसने फ़ौरन प्रश्न किया—यह क्यों? इस प्रश्न में घूँघट भी खसका, स्निग्ध नेत्रों ने प्रश्नों का ताँता बाँध दिया। फिर उसने अपने आँचल से पति के आँसू पोंछ डाले। चन्द्रनाथ ने थोड़ा शान्त होने

पर पत्नी का चुम्बन किया। मुख्य विवाह तो उनका अब हुआ। सारी विषमता नष्ट हुई। अब दोनों व्यक्ति एक-दूसरे के अति निकट, परस्पर एक-दूसरे के परम हितैषी, प्रेमी और अकपट बन्धु बने। अब वे वास्तव में पति-पत्नी थे; और आनन्दी अब इसका रहस्य समझ गई थी।

६

चन्द्रनाथ छुट्टी पूरी होने पर नौकरी पर आ गए। साथ में अकेली आनन्दी थी। नौकरी बड़ी आसान थी। अधिकांश समय छुट्टी का रहता और वह उनका पत्नी के पास कटता। चन्द्रनाथ ने देखा, इस पत्नि-पद पर यह जो बालिका आई है, उसमें नैसर्गिक सरलता को छोड़ कर और कुछ योग्यता इस पद पर बैठने योग्य नहीं। रूप? रूप एक पृथक् वस्तु है—पत्नित्व से उसका क्या सम्बन्ध? चन्द्रनाथ की गहन विवेचना-बुद्धि इस बात को ठीक-ठीक समझ गई थी। वे बड़े कर्मठ और धीर पुरुष थे। वे पत्नी की कमी दूर करने, उसे पूर्ण पत्नी बनाने के आयोजन में लगे। साधारण शिष्टाचार से लेकर सीना-पिरोना, रसोई बनाना, पढ़ाना-लिखाना एवं गान-विद्या का भी शिक्षण देना उन्होंने ठान लिया। वे आवश्यकता से ऊँची उड़ान उड़े। केवल कल्पना से नहीं, कर्म से भी। वे दो-दो घण्टे चूल्हे के आगे बैठ कर सब प्रकार के पाक-शास्त्र की स्वयं शिक्षा देने लगे। पाक-विद्या की जितनी हिन्दी पुस्तकें मिल सकती थीं,

सभी उन्होंने खरीद लीं। फिर साधारण सिलाई से लेकर क़सीदे तक के काम के लिए उन्होंने शिक्षिकाएँ नियत कर दीं। पढ़ाने के लिए दो अध्यापक प्रति दिन बारी-बारी से आकर पढ़ाने लगे। एक केवल गणित और दूसरा हिन्दी भाषा। रात को स्वयं चन्द्रनाथ हारमोनियम लेकर बैठते; परन्तु एकदम वे कल्याण, विहाग और सोरठ पर दौड़ पड़ते।

विवाह के बाद नववधू को ऐसी भयानक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, इतना कठोर परिश्रम करना पड़ता है, यह आनन्दी को ज्ञात न था। वह भौंचक-सी सभी की आज्ञा मानती, सभी कुछ सीखना चाहती, सभी तरह योग्य बनना चाहती। पर सबके बीच में एक वस्तु बाधक थी! उसकी प्रकृति, आयु का विकास, यौवन का विकास, और ठीक समय पर चन्द्रनाथ की—नहीं-नहीं, पति की प्राप्ति। परन्तु पति में एक अद्भुतता थी। क्षण-भर में तो वे उस नववधू के नवपति, आनन्द और उल्लास के देवता, प्यार और आदर के उद्गम थे; परन्तु दूसरे ही क्षण में, कठोर गुरु, नियन्ता, संरक्षक, शिक्षक और न जाने क्या-क्या? अब बालिका समझे तो क्या? सोचे तो क्या? कहे तो क्या? और करे तो क्या?

उसके प्रकृत हास्य और विनोद में व्याघात पड़ने लगा। उसकी प्रत्येक चेष्टा की चन्द्रनाथ आलोचना करते, रहन-

सहन में ऐब निकालते। इस तरह इस बात को मत बोलो, इतना ज़ोर से मत हँसो, इस तरह खड़ा होना सभ्यता नहीं, यह वस्त्र इस तरह नहीं पहना करते, अरे! तुमने इस तरह पाँव फैला कर बैठने की आदत नहीं छोड़ी। इन बातों से आनन्दी का खाना-पीना, सोना-जागना—यहाँ तक कि साँस लेना भी हराम हो गया।

उसके हृदय में पति के प्रति प्रेम का पूर्ण स्फोट नहीं हुआ था। उसके हृदय की कली अविकसित थी। इसी पर उस पर दिन पर दिन कठोर होते हुए उसके पति के शासन ने उसे भयभीत और शङ्कित कर दिया। चन्द्रनाथ के अन्तस्तल को समझने की शक्ति उस अबोध में कहाँ थी? जिस आयु में जीवन आँखों में होता है, उस आयु में प्रौढ़ वासना का तत्व कैसे समझा जाय? आनन्दी थकित, चिन्तित और पीड़ित सी पति की बातों को यथासाध्य मानने का ध्यान करती, चेष्टा करती, परन्तु उससे सदैव भूलें होतीं। वह पति को क्रुद्ध देख कर ज़रा भयभीत होती, पर उन्हें हँसता देख कर निःशङ्क देखने लगती। धीरे-धीरे उसे इस जीवन का भी अभ्यास हो गया। उसे ऐसा भास हुआ, ये तो इसी तरह क्षण में हँसते, क्षण में क्रुद्ध होते हैं, इसका ज्यादा विचार न करना चाहिए।

चन्द्रनाथ जब कड़े शासक बने थे, तब यदि शासक ही बने रहते तो वे अपने उद्देश्य में सफल होते। परन्तु

वे भावुक भी तो थे। पत्नी को प्यार भी करते थे, अपार दया भी उनकी उस पर थी। वे यह जानते हैं कि इस उल्लसित कुसुम-कलिका को समवयस्क पति के साथ पूर्ण विकसित होने देने का स्वाभाविक अधिकार मैंने छीन कर, इस पर अन्याय भी किया है। पर किया क्या जाय। उसे अति शीघ्र अपनी पत्नि-पद के योग्य बनाने की बड़ी आवश्यकता भी थी। विवश हो वे उसे शासन में रखने के लिए केवल आवश्यक कड़ाई करते, परन्तु फिर यथासम्भव प्रेम और क्षमा का भाव भी रखते।

इसी का ग़लत अर्थ आनन्दी ने लगाया था। और वह अब पति के क्रोध की उपेक्षा करने लगी थी। उसकी आयु का मद, और धीरे-धीरे प्राचीन बनना उसका सहायक था।

७

चन्द्रनाथ को जीवन का पूर्ण विकास प्राप्त था। उनकी आयु, शिक्षा और परिस्थिति ने उस विकास को सहायता दी थी। चन्द्रनाथ जैसे पुरुष अपनी स्त्री को सहधर्मिणी के रूप में अथवा कम से कम पत्नी के रूप में अपने सम्मुख देखे बिना कैसे सन्तुष्ट रह सकते थे। परन्तु आनन्दी पत्नी या सहधर्मिणी थी कहाँ? खास कर चन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति की? वह अबोध, अज्ञानी बालिका, हठात् विषम पुरुष की स्त्री बनाई गई और फिर हठात् उसे

उसकी सहधर्मिणी और पत्नी बनाने के लिए कई अध्यापक, अध्यापिकाएँ, स्वयं चन्द्रनाथ और बहुत-कुछ सञ्जाम धूम मचाने लगा। उसका जीवन प्रारम्भ था। विवाह और पति—इन दो मधुर शब्दों से यौवन के प्रारम्भ में जो लहरें उठती हैं, वह आनन्दी के मन में उठती थीं—स्वाभाविक रूप से भी और सखी-सहेलियों तथा पड़ोसिन सम-वयस्काओं के द्वारा उत्तेजन प्राप्त करने पर भी। परन्तु उन लहरों का किनारा तो एकमात्र पति है—वह पति यदि तिल बराबर पति था, तो पहाड़ बराबर बुज़ुर्ग, गुरु और शासक था। वह रत्ती भर यदि सखा था तो मन भर अधिकारी था! जैसे वासन्ती वायु अपने झोंकों से कली को खिलाती है और दोपहर की धूप का प्रखर तेज उसे मुरझा कर झुलसा देता है, उसी प्रकार आनन्दी की दशा थी।

चन्द्रनाथ चुटीले हृदय के पुरुष थे। उनकी जीवन-सङ्गिनी छिन चुकी थी, जिसके साथ उन्होंने अपने नवीन यौवन के उल्लास और विकास के साथ यह प्रौढ़ पद प्राप्त किया था। उसकी मृत्यु के तत्क्षण बाद वे आतुर होकर एक स्त्री-शरीर के लिए विकल हो उठे। तब तक वे स्त्री-शरीर और पत्नी एवं सहधर्मिणी में क्या अन्तर है, यह समझे न थे। अब पुराने शरीर की जगह नया शरीर, ढले यौवन की जगह उठता यौवन, विषाद की जगह उल्लास उन्हें मिला।

पर नहीं मिली पत्नी, सहधर्मिणी, जीवन-सङ्गिनी। उसे खोकर अब वे इतने दिन बाद जाग्रत हुए।

तारों से भरी रात थी। बड़े परिश्रम से थकित चन्द्रनाथ बाहर से आए थे। घर में देखा, आनन्दी बेसुध पड़ी सो रही है। चन्द्रनाथ सोचने लगे, मेरा तो अभी भोजन भी नहीं हुआ। यह सो गई। एक वह थी, जो ऐसी अवस्था में रात्रि भर खड़ी प्रतीक्षा करती थी। पत्नी और सहधर्मिणी बनने के लिए स्त्री को कितनी तपस्विनी, कितनी साध्वी, कितनी इन्द्रिय-विजयिनी बनने की आवश्यकता है—अब उन्होंने इस पर गम्भीर विचार किया।

ओह तपस्विनी! तुमने भूख-प्यास, क्रोध-निद्रा को जीत लिया था, तुम अपने साधारण वेश और साधारण आकृति में किस दायित्व को छिपाए मेरे-जैसे प्रकाण्ड पुरुष के साथ आधी आयु तक चलीं। कैसी सरलता, कैसे सुख, कैसे आनन्द के साथ! तुम इतने ज़ोर से कभी न हँसती थीं; पर तुम्हारे साथ उतने ही ज़ोर से मैं भी तो हँसता था। यह कितना हँसती है, पर मैं उस हँसी से इतना भयभीत होता हूँ, जितना बच्चे बिजली की तड़प से। सदैव इसकी आत्मा हँसती है और मेरी रोती है। मेरे जीवन में घाव है, मेरे निर्वाह में किरकिरी है, पर इसका जीवन तो अभी सोकर उठा है, अपने जीवन के प्रभात में यह ग़रीब मुझ घायल के साथ कहाँ तक कृत्रिम वेदना

सहन करेगी ! उन्होंने शय्या पर सुख की नींद लेते आनन्दी के स्वर्ण-शरीर को देखा, फिर उनकी दृष्टि सुदूर आकाश में टिमटिमाते एक तेजस्वी तारे पर जाकर अटक गई। उन्होंने देखा वह शीर्ण मुख, वह शान्त मुद्रा करुण-भाव से उन्हें देख रही है। वे दोनों हाथ आकाश की तरफ़ फैला कर 'क्षमा-क्षमा, ओ तपस्विनी, क्षमा !' कह कर उन्मत्त की तरह दौड़े।

आनन्दी हड़बड़ा कर उठ बैठी। नींद पर झुँझलाई। अपने पर मलामत की। वह अतिशय अपराधिनी की तरह भयभीत दीवार के सहारे खड़ी पति का उन्माद देखने लगी। बालिका में उद्विग्न पति को सान्त्वना देने का साहस कहाँ था ? चन्द्रनाथ पृथ्वी पर गिर कर रोने लगे और वहीं वे सो भी गए। आनन्दी रात भर उनके पैरों को गोद में लिए बैठी रोती रही।

८

दूसरे दिन दोनों ही चुप थे। चन्द्रनाथ नीची गर्दन किए चुपचाप भोजन कर गए। आनन्दी ने पति को भोजन करा कर स्वयं कुछ न खाया। सन्ध्या-समय चन्द्रनाथ ने घर में आकर देखा, आनन्दी चुपचाप गृहकार्यों में लगी है। रसोई प्रथम ही से तैयार है। पति को देखते ही उसने विनयपूर्वक पति से भोजन को कहा—चन्द्रनाथ ने पत्नी का वह स्वर प्रथम कभी न सुना था। उन्होंने देखा, गम्भीर

विषाद की रेखा और थकित भावना उन उत्फुल्ल नयनों को निर्जीव कर चुकी थी। पर वे स्वयं बहुत गम्भीर थे। उन्होंने आनन्दी पर कुछ ध्यान न दिया—वे चुपचाप भोजन करके बाहर बैठक में चले गए।

धीरे-धीरे रात्रि गम्भीर होने लगी। चन्द्रनाथ ने शयनागार में जाकर देखा, दूध के समान शय्या पर फूलों से शृङ्गार हो रहा है, परन्तु आनन्दी का वहाँ पता नहीं। चन्द्रनाथ ने इधर-उधर देखा। घर भर देख डाला। आशङ्का और भय से वे छटपटाने लगे—हे ईश्वर! मामला क्या है? रसोई के भीतर की ईंधन वाली कोठरी में आनन्दी धरती पर पड़ी थी। उसे होश न था। चन्द्रनाथ ने बाहर लाकर उसे देखा—शरीर ठण्ढा, और अकड़ कर लकड़ी के समान बन गया है, आँखें पथरा गई हैं, मुख से झाग आ रहा है, चन्द्रनाथ सब समझ गए। उन्होंने धैर्य से नाड़ी और हृदय के स्पन्दन को देखा और एक क्षण भी व्यर्थ न खो, डॉक्टर के लिए दौड़े।

× × ×

प्रभात की ऊषा के उदय के साथ ही साथ आनन्दी ने चैतन्य लाभ किया। दीप की क्षीण रेखा में उसने विषण्ण-मुख पति को अस्त-व्यस्त वेश में पलङ्ग के सिरहाने खड़े देखा। उसके नेत्र-कोण से अश्रु-जल बह चला। धीरे से आनन्दी ने अपना हाथ ऊपर उठा कर पति का हाथ पकड़

लिया। चन्द्रनाथ झुक कर बैठ गए। उन्होंने कहा—यह तुमने क्या किया ?

आनन्दी के होठ फड़क कर रह गए। उसने अभिप्राय की दृष्टि से पति को देखा।

"क्या तुम्हें कुछ कष्ट था ?"

"कष्ट ? मैं नवीन जीवन में आई थी। परन्तु मैं अयोग्य, पूरी चेष्टा करने पर भी आपको सुखी न कर सकी। जीवन भर जो प्यार, सुख-आदर मुझे नसीब नहीं हुआ था, वह आपने मुझे दिया। हाय ! कहाँ मैं अभागिनी तुच्छ बालिका और कहाँ आप ? ओह ! आपकी महिमा, वह भी मैं समझ नहीं सकती। मैं पढ़ नहीं सकती, सीख नहीं सकती, मैं जितना ही आपको सुखी बनाने की चेष्टा करती, उतनी ही मूर्खता करती। मैं आपके जीवन में किरकिरी हूँ—मुझे जाने दीजिए, मुझे चरणों की धूल दीजिए।"

चन्द्रनाथ को इस अवसर पर, इस प्रगल्भ भाषण के सुनने की आशा न थी। आनन्दी फिर बोली—मेरी जितनी योग्यता है, उतना ही मैं सीख सकती हूँ, आप मुझे जितनी बड़ी बनाना चाहते हैं, उतनी मैं बन कैसे सकती हूँ ?

चन्द्रनाथ ने बात टाल कर कहा—तुमने क्या खाया था ?

"अफ़ीम !"

"कहाँ से मिली ?"

आनन्दी चुप रही।

चन्द्रनाथ कुछ देर स्तब्ध बैठे रहे। फिर उन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि से पत्नी को देख कर कहा—प्रिये, मूर्ख तो मैं हूँ—तेज़ आँच में रोटी सिकती नहीं, जलती है। ठहरो, तुम इतना समझ सकती हो—यह मैं न जानता था। तुम्हें अल्पवयस्का समझ कर उधर तुम्हारी बुद्धि पर मैं पूर्ण अविश्वास करता था, और उधर तुम्हारी बुद्धि से सहस्र गुणा भार उस पर लादता था। आज से मैं तुम्हारा गुरु नहीं, शिक्षक नहीं, शासक नहीं—पति हूँ, मित्र हूँ। आओ, मैं स्वार्थ का त्याग करूँगा।

आनन्दी के नेत्रों में एक और ही प्रभा थी। वह बालिका की नहीं, नारी की नहीं, पत्नित्व के गहन उत्तरदायित्व को व्यक्त कर रही थी। चन्द्रनाथ ने देखा, वे कुछ कह न सके।

आनन्दी फीकी पड़ने लगी। उसकी मुट्ठी शिथिल हुई और चन्द्रनाथ का हाथ उसके कर-पल्लव से पृथक् हो गया। चन्द्रनाथ रोए नहीं, एक अतर्क्य वेदना एवं मार्मिक आलोचना उनके मन में उठ रही थी। उन्होंने अतिशय प्रेम और आदर से आनन्दी का चुम्बन लेने का इरादा किया। पर आनन्दी वहाँ थी कहाँ? चन्द्रनाथ ने उस निर्जन प्रभात में, आनन्दी के अभाव में उसके शरीर को जी भर के एक बार प्यार किया और फिर उसके उन्मीलित नेत्रों को अनन्त के लिए आच्छादित कर दिया।

बावर्चिन

बारह

सन् १८४५ की २८ वीं मई के तीसरे पहर एक पालकी चाँदनी चौक में होकर लाल क़िले की ओर जा रही थी। पालकी बहुमूल्य कमख़्वाब और ज़री के पर्दों से ढँकी हुई थी। आठ कहार उसे कन्धों पर उठाए थे और १६ तातारी बाँदियाँ नङ्गी तलवार लिए उसके गिर्द चल रही थीं। उनके पीछे ४० सवारों का एक दस्ता था, जिसका अफ़सर एक कुम्मेत अरबी घोड़े पर चढ़ा हुआ था। उसकी ज़रबफ़्त की बहुमूल्य पोशाक पर कमर में नाज़ुक तलवार लटक रही थी, जिसकी मूँछ पर गङ्गा-जमुनी काम हो रहा था। उसकी काली घनी डाढ़ी के बीच, अङ्गारे की तरह दहकते चेहरे में मशाल की तरह जलती हुई आँखें चमक रही थीं, जिन्हें वह चारों तरफ़ घुमाता हुआ, अकड़ कर, किन्तु ख़ूब सावधानी से पालकी के पीछे-पीछे जा रहा था।

भयानक गर्मी से दिल्ली तप रही थी। तब चाँदनी चौक की सड़कें आज की जैसी तारकोल बिछी हुई आईने की तरह चमचमाती न थीं, न मोटरों की घोंघों-पोंपों और सर्राटेबन्द दौड़ थी। चाँदनी चौक की सड़कों पर काफ़ी

गर्द-गुब्बार रहता था। हाथी, घोड़े, पालकी और नागौरी बैलों की जोड़ी से ठुमकती हुई बहलियाँ एक अजब बाँकी अदा से उछला करती थीं।

अब जिस स्थान पर घण्टाघर है, वहाँ तब एक बड़ा सा हौज़ था, जो चाँदनी चौक की नहर से मिल गया था, और जहाँ कम्पनी बाग़ और कमेटी की लाल सङ्गीन इमारत खड़ी है, वहाँ एक बड़ी भारी किन्तु खस्ताहाल सराय थी, जिसकी बुर्जियाँ टूट गई थीं और जहाँ अनगिनती खच्चर, टट्टू, बैलगाड़ियाँ, घोड़े और परदेशी बेतरतीबी से पेड़ों के नीचे या बेमरम्मत कोठरियों में भरे हुए थे।

जिस समय पालकी वहाँ से गुज़र रही थी, उस समय हौज़ पर खासा धोबी-घाट लगा हुआ था। कोई नहा रहा था, कोई साबुन से कपड़े धो रहा था। सराय के टूटे किन्तु सङ्गीन फाटक पर देशी-विदेशी आदमियों का जमघट लगा था!

पालकी अवश्य ही कहीं दूर से आ रही थी। कहार लोग पसीने से लथपथ हो रहे थे, उनका दम फूल रहा था और वे लड़खड़ा रहे थे। पीछे से अफ़सर तेज़ चलने की ताकीद कर रहा था, मगर ऐसा मालूम होता था कि अब और तेज़ चलना असम्भव है।

कहारों में एक बूढ़ा कहार था, उसका हाल बहुत ही बुरा हो रहा था। कुछ क़दम और चल कर वह ठोकर खाकर गिर पड़ा, पालकी रुक गई।

तातारी बाँदियाँ झिझक कर खड़ी हो गईं। अफ़सर ने घोड़ा बढ़ाया। बूढ़ा अभी सँभला न था। एक चाबुक सपाक से उसकी गर्दन और कनपटी की चमड़ी उधेड़ गया। साथ ही बिजली की कड़क की तरह उसके कान में शब्द पड़े—उठ, उठ, ओ दोज़ख़ के कुत्ते! देर हो रही है।

कहार ने उठने की चेष्टा की, पर उठ न सका। वह गिर गया। गिरते ही दस-बीस, पच्चीस-पचास चाबुक तड़ातड़ पड़े, ख़ून का फ़व्वारा छूटा और कहार का जीवन-प्रदीप बुझ गया!!

लाश को पैर की ठोकर से ढकेल कर अफ़सर ने ख़ूनी आँखें भीड़ पर दौड़ाईं। एक गठीला गौरवर्ण युवक मैले और फटे वस्त्र पहने भीड़ में सबसे आगे खड़ा था। मुश्किल से रेखें भीगी होंगी। अफ़सर ने डपट कर उसे पालकी उठाने का हुक्म दिया। युवक आगे बढ़ा। दूसरे ही क्षण सपाक से एक चाबुक उसकी पीठ पर पड़ा और साथ ही ये शब्द—साला, जल्दी!

युवक ने क्रुद्ध स्वर में कहा—जनाब! हुक्म बजा लाता हूँ, मगर ज़बान सँभाल×××

दस-बीस चाबुक खाकर युवक वहीं तड़प कर गिर गया। उसकी नाक और मुँह से ख़ून का फ़व्वारा बह चला। अफ़सर ने और एक आदमी को कन्धा लगाने का हुक्म दिया। क्षण भर में पालकी फिर अपनी राह लगी।

२

चिराग़ जल चुके थे। दीवाने ख़ास में हज़ारा फ़ानूस की तमाम काफ़ूरी मोमबत्तियाँ जल रही थीं। जमुना की लहरों से धुल कर पूर्वी हवा झरोखों से छन-छन कर आ रही थी। ख़ास-ख़ास दरबारी बादशाह सलामत के तशरीफ़ लाने की इन्तज़ारी में अदब से खड़े थे। सामने एक चौकी पर वही युवक लहूलुहान पड़ा था। अन्तःपुर के झरोखों से परिचारिकाओं के कण्ठ-स्वर ने कहा—"होशियार, अदब क़ायदा निगहदार!" यह शब्द-स्वर चोबदारों ने दुहराया—"होशियार, अदब क़ायदा निगहदार!" उमराव-मण्डल और मन्त्रि-मण्डल ज़मीन तक सिर झुका कर खड़ा हो गया। सम्पूर्ण दरबार में निस्तब्धता छा गई। धीरे-धीरे वृद्ध सम्राट बहादुरशाह दो सुन्दरियों के कन्धों का सहारा लिए भीतरी ड्योढ़ी से निकल कर सिंहासन पर आ बैठे। चार बाँदियाँ मोरछल लेकर बग़ल में आ खड़ी हुईं। चोबदार ने पुकारा—"ज़ल्ले इलाही बरामद कर्द मुजरा अदब से!"

यह सुनते ही एक उमराव सहसा हुआ अपने स्थान से आगे बढ़ा और सम्राट के सामने जाकर उसने तीन बार झुक कर सलाम किया। चोबदार ने उसके रुतबे और शान के अनुसार कुछ शब्द कह कर सम्राट का ध्यान उधर आकर्षित किया। इसी प्रकार सभी सरदारों ने प्रणाम किया।

इसके बाद बादशाह ने वज़ीर को सङ्केत किया। वज़ीर ने जवान से कहा—जवान ! तुम्हारे हालात बादशाह सलामत अगर्चे सुन चुके हैं, मगर तुम्हारी ख़ास ज़बान से सुनना चाहते हैं। तमाम हालात मुफ़स्सिल में बयान करो।

युवक ने ज़मीन में लोट-लोट कर सब मामला बयान किया। बादशाह ने फ़र्माया—सब हरूफ़-बहरूफ़ सही है। कहाँ है वह जालिम ज़मीर ?

वही ख़ूँख़्वार अफ़सर ज़मीर तख़्त के सामने आकर घुटनों के बल गिर गया।

बादशाह ने फ़र्माया—ज़मीर ! तुझे कुछ कहना है ?

"ख़ुदाबन्द ! रहम ! रहम !"

बादशाह ने हुक्म दिया—इस ज़ालिम को सीधा खड़ा करो। मगर ठहरो, मैं इस पर भी रहम किया चाहता हूँ। इसे नौकरी से बरख़ास्त किया जाता है और इसका दर्जा इस नौजवान को अता किया जाता है। इसकी तमाम जायदाद ज़ब्त की जाती है और वह उस कहार के घर वालों को बख़्श दी जाती है।

हुक्म देकर बादशाह उठे। तुरन्त चार बाँदियों ने सहारा दिया। दरबारी लोग ज़मीन तक झुक गए। बादशाह ने युवक के निकट आकर कहा—आराम होने तक शाही महलों में रहने की तुम्हें इजाज़त बख़्शी जाती

है और शाही हकीम तुम्हारे मालजे को मुक़र्रर किए जाते हैं।

युवक ने बादशाह की क़दमबोसी की और पल्ला चूमा। बादशाह धीरे-धीरे अन्तःपुर में प्रवेश कर गए।

३

अन्तःपुर के उन झरोखों के भीतर, जहाँ किसी भी मर्द की परछाईं पहुचनी सम्भव न थी, एक बहुमूल्य मखमली गद्दे पर वह घायल युवक पड़ा अपने प्रारब्ध-विकास की बात सोच रहा था। एक ही दुखदाई घटना ने, जिसे शायद ही कोई निमन्त्रित करे, उसके भाग्य का पाँसा पलट दिया था। वह सोच रहा था, क्या सचमुच मेरे ये फटे चिथड़े, वह टूटा छप्पर का घर, वह माता का चक्की पीसना, सभी बदल जायगा। वह जागते ही जागते स्वप्न देखने लगा—एक धवल अट्टालिका, दास-दासी, घोड़े-हाथी, सेना और न जाने क्या-क्या ?

सभी विचार-धाराओं के ऊपर उसे एक नवीन विचार-धारा मूर्च्छित कर रही थी—वह कौन है ? वही क्या इस सब भाग्य-परिवर्त्तन की कुञ्जी नहीं ? पालकी के उस दुर्भेद्य पर्दे के भीतर × × × ! वह सोच में मूर्च्छित हो गया।

हठात् उसकी विचार-धारा को धक्का देते हुए कक्ष का पर्दा हटा कर दो दासियों के साथ एक खोजे ने प्रवेश किया। दासियों के हाथ में भोजन की सामग्री थी। स्वप्न-

सुख की तरह कहीं वह राजभोग लुप्त न हो जाय, घायल युवक इस भय से लपक कर उठा। खोजे ने कहा—खाना खा लो, और ख़ुदा का शुक्र करो। हुज़ूर शाहज़ादी तुम पर बहुत ख़ुश हैं और वे जल्द तुम्हें देखने को तशरीफ़ लाने वाली हैं।

× × ×

चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना की तरह शाहज़ादी ने कक्ष में प्रवेश किया। दो अल्प-वयस्का दासियाँ परछाईं की तरह उनके पीछे थीं। शुभ्र, महीन रेशमी परिधान पर ज़रदोज़ी और सलमे का बारीक़ काम निहायत फ़साहत से हो रहा था। वह अस्फुटित कुन्दकली के समान, कोमलता और माधुर्य की मूर्त्तिमती रेखा के समान समस्त भारत के सम्राट् की पौत्री शाहज़ादी गुलबानू थी।

केवल क्षण भर ही वह युवक उस अति दुर्लभ मुख की ओर देखने का साहस कर सका। उसने उठने की चेष्टा की, परन्तु मानो उसके शरीर का सत निकल गया था। वह गिर पड़ा, गिरे ही गिरे उसने ज़रा बढ़ कर अपना मस्तक शाहज़ादी के क़दमों पर रख दिया। शाहज़ादी के जूतों में लगे हीरे युवक के मस्तक पर मुकुट की तरह दिप उठे।

शाहज़ादी ने मानो फूल बखेर दिए। उसने कहा—कल के हादिसे का मुझे बहुत रञ्ज है, पर मैं समझती हूँ, अब तुम बहुत अच्छे हो। मैंने पालकी से तमाम माजरा

देखा था, मगर कर क्या सकती थी ? मैंने दादाजान से आते ही शिकायत कर दी थी।

युवक ने ज़रा ऊँचा उठ कर शाहज़ादी का आँचल आँखों से लगाया, और बारम्बार ज़मीन चूम कर कहा—हुज़ूर, ख़ुदाबन्द शाहज़ादी, कल अगर हुज़ूर की पालकी की ख़ाक न नसीब होती तो आज यह दिन कहाँ ? जहाँपनाह ने इस नाचीज़ ग़ुलाम को निहाल कर दिया है। ताबेदार ताउम्र इन क़दमों का नमकहलाल रहेगा।

शाहज़ादी कुछ न कह कर धीरे-धीरे चली गई, परन्तु उसके साँस की सुगन्ध वहाँ भर गई थी, और उसीके प्रभाव से युवक के घाव भर गए थे। वह उस स्थान को, जहाँ शाहज़ादी के कमल-पद छू गए थे, अपनी छाती से लगा कर बदहवास पड़ रहा। वह मूर्त्ति चाहे क्षण भर ही वह देख सका था, पर वह उसके रोम-रोम में रम गई थी। पर दुनिया के पर्दे में कौन सा ऐसा कोई मर्द-बच्चा था, जो फिर उसे एक बार देख लेने का हौसला भी कर सकता ?

४

१२ साल बीत गए। सन् ५७ की २४वीं मई थी। ग़दर की आग धू-धू करके जल रही थी। चिनगारियाँ आसमान को छू चुकी थीं। निकल्सन ने दिल्ली पर घेरा डाल रक्खा था। भाग्य की रेखा के बल पर बूढ़े और

लाचार बादशाह बहादुरशाह ने बाग़ियों का साथ दिया था। क्षण-क्षण में बाग़ी हार रहे थे। अङ्गरेज़ी तोपें काशमीरी दरवाज़े पर गरज रही थीं। लाहौरी दरवाज़ा सर हो चुका था। फ़तहपुरी मस्जिद के सामने अङ्गरेज़ी घुड़सवार और बाग़ियों की लाल होली खेली जा रही थी। लाशों के ढेर में से अधमरे सिपाही चिल्ला रहे थे। अङ्गरेज़ बराबर बढ़ते और जो मिलता उसे सङ्गीनों से छेदते चले आ रहे थे। कर्नल वाट्सन के हाथ में कमान थी। इनके साथ थे एक सम्भ्रान्त मुसलमान अमीर जनाब इलाहीबख़्श। वे एक अरबी नफ़ीस घोड़े पर पान चबाते, इतराते बढ़ रहे थे, लोग देख-देख कर भयभीत होकर घरों में छिप रहे थे।

यह इलाहीबख़्श वही घायल युवक थे, जो अपनी जवाँमर्दी और चतुराई से १० वर्ष में बादशाह के अमीर और नगर के प्रतिष्ठित तथा प्रभावशाली व्यक्ति बन गए थे। अङ्गरेज़ों ने दमदार मुग़लों को जहाँ तोपों और सङ्गीनों की नोक से वश में किया था, वहाँ कुछ नमकहराम, सङ्गदिल लोगों को अपनी भेद-नीति और सोने के टुकड़ों से वश में कर लिया था। इलाहीबख़्श भी उनमें से एक थे। १० वर्ष पहले शाहज़ादी के क़दमों पर गिर कर नमक-हलाली की जो बात उन्होंने कही थी, वह अब उन्होंने दरगुज़र कर दी थी। वे अब अङ्गरेज़ों के भेदिए थे।

दोनों व्यक्ति सराय के सामने जाकर ठहर गए। हौज़ के पास, जहाँ अब घण्टाघर है, बराबर-बराबर फाँसियाँ गड़ी थीं और क्षण-क्षण में चारों तरफ़ गली-कूचों से आदमी पकड़े जाकर फाँसी पर चढ़ाए जा रहे थे। कुछ ख़ास क़ैदी इनकी प्रतीक्षा में बँधे बैठे थे। हडसन साहब ने सबको खड़ा होने का हुक्म दिया। इलाहीबख़्श ने उनमें से मुग़ल-सरदारों और राज-परिवार वालों की सनाख़्त की; वे सब फाँसी पर लटका दिए गए। इसके बाद, बादशाह क़िले से भाग गए हैं—यह सुन कर एक फ़ौज की टुकड़ी लेकर दोनों तीर की तरह रवाना हुए।

५

बादशाह सलामत जल्दी-जल्दी नमाज़ पढ़ रहे थे। उनके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसुओं की धार बह रही थी। शाहज़ादी गुलबानू ने आकर कहा—बाबा-जान! यह आप क्या कर रहे हैं?

"बेटी अब और कर ही क्या सकता हूँ? ख़ुदा से दुआ माँगता हूँ, कहता हूँ—ऐ दुनिया के मालिक! मेरी मुश्किल आसान कर; यह तख़्त, तैमूर के ख़ून का तख़्त तो आज गया ही, मेरे बच्चों की जान और आबरू पर रहम बख़्श!"

गुलबानू ने कहा—बाबा! दुश्मन क़िले तक पहुँच चुके हैं। आपके लिए सवारी तैयार है, भागिए!

बादशाह ने अन्धे की तरह शाहज़ादी का हाथ पकड़ कर कहा—भागूँ कहाँ ? हाय ! वह घड़ी अब आ ही गई ?

इसके बाद उन्होंने अपनी जड़ाऊ सन्दूक़ची मँगाई, और परिवार के सब लोगों को बुला कर एक-एक मुट्ठी हीरे सबको देकर कहा—ख़ुदा हाफ़िज़ !

क़िले से निकल कर बादशाह सीधे निज़ामुद्दीन गए। उस वक़्त उनके मुख-मण्डल की आभा उतरी हुई थी। कुछ ख़ास ख़ास ख़्वाजासरा, कहार और इने-गिने शुभचिन्तकों के सिवा कोई साथ न था। चिन्ता और भय से वे रह-रह कर काँप रहे थे। उनकी सफ़ेद दाढ़ी धूल से भर रही थी। बादशाह चुपचाप जाकर सीढ़ियों पर बैठ गए।

ग़ुलामहुसेन चिश्ती सुन कर दौड़े आए। बादशाह उन्हें देखते ही खिलखिला कर हँस पड़े। चिश्ती साहब ने पूछा—ख़ैर तो है ?

"ख़ैर ही है, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था कि ये बदनसीब ग़दर वाले मनमानी करने वाले हैं। इन पर यक़ीन करना बेवक़ूफ़ी है; ये ख़ुद डूबेंगे और हमें भी डुबा-वेंगे। वही हुआ, भाग निकले। मुझे तो होनहार दिखाई दे गई थी कि मैं मुग़लों का आख़िरी चिराग़ हूँ। मुग़लों के तख़्त का आख़िरी साँस टूट रहा है, कोई घड़ी-भर का मिहमान है। फिर ख़ून-ख़राबी क्यों करूँ ? इसीलिए क़िला छोड़ कर चला आया। मुल्क ख़ुदा का है, जिसे चाहे दे,

जिसे चाहे ले। सैकड़ों साल तक हमारे नाम का सिक्का चला। अब हवा का रुख कुछ और ही है। वे हुकूमत करेंगे, ताज पहनेंगे। इसमें अफ़सोस क्यों ? हमने भी तो दूसरों को मिटा कर अपना घर बसाया था! हाँ, आज तीन दिन से खाना नसीब नहीं हुआ है। कुछ हो तो ले आओ ?"

चिश्ती साहब ने कहा—सिर्फ़ बाजरे की रोटी और सिर्के की चटनी है। हुक्म हो तो हाज़िर करूँ।

"वही ले आओ।"

बादशाह ने शान्तिपूर्वक एक रोटी खा और पानी पीकर कहा—बस, अब हुमायूँ के मक़बरे में चला जाऊँगा, वहाँ जो भाग्य में होगा वह होगा।

हुमायूँ के मक़बरे में हडसन और इलाहीबख्श ने आकर बादशाह को गिरफ़्तार करके रङ्गून भेज दिया।

६

तीन वर्ष व्यतीत हो गए। दिल्ली में अङ्गरेज़ी अमल जम कर बैठ गया था। लाल क़िले पर यूनियन जैक फहरा रहा था। फाँसियों की विभीषिकाओं ने नगर और ग्राम की जनता के मन में दहल उत्पन्न कर दी थी। दब्बू भेड़ की तरह चुपचाप अङ्गरेज़ों के विधान को अटल प्रारब्ध की तरह देख और सह रहे थे। इलाहीबख्श के पास बादशाही बख्शीश ही बहुत थी, अब अङ्गरेज़ी जागीरों

और मेहरबानियों ने उन्हें आधी दिल्ली का मालिक बना दिया था। सरकारी नीलामों में मुहल्ले के मुहल्ले उन्होंने कौड़ियों में पाए थे। उनकी बड़ी भारी अट्टालिका खड़ी मनुष्य के भाग्य पर हँस रही थी। सन्ध्या का समय था। अपनी हवेली के विशाल प्राङ्गण में तख्त के ऊपर बढ़िया ईरानी क़ालीन पर मसनद के सहारे इलाहीबख्श बैठे अम्बरी तमाखू पी रहे थे, दो-चार मुसाहिब सामने अदब से बैठे जी-हुज़ूरी कर रहे थे। मियाँ जी को मालूम होता है, बचपन के दिन भूल गए थे। वे बहुत बढ़िया अतलस के अँगरखे पर कमख़ाब की नीमास्तीन पहने थे।

धीरे-धीरे अन्धकार के पर्दे को चीरती हुई एक मूर्त्ति अग्रसर हुई। लोगों ने देखा, एक स्त्री-मूर्त्ति मैला और फटा हुआ बुर्क़ा पहने आ रही है। लोगों ने रोका, मगर उसने सुना नहीं। वह चुपचाप मियाँ इलाहीबख्श के सन्मुख आ खड़ी हुई।

मियाँ ने पूछा—क्या चाहती हो ?

"पनाह !"

"कौन हो ?"

"आफ़त की मारी !"

"अकेली हो ?"

"बिलकुल अकेली !"

"कुछ काम करना जानती हो ?"

"बावर्ची का काम सीख लिया है !"

"तनख़ाह क्या लोगी ?"

"एक टुकड़ा रोटी !"

बहुत महीन, दर्द-भरी, कम्पित आवाज़ में इन जवाबों को सुन कर मियाँ इलाहीबख़्श सोच में पड़ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने नौकर को बुला कर उस स्त्री को भीतर भिजवा दिया। उस दिन उसी को खाना बनाने का हुक्म हुआ।

मियाँ इलाहीबख़्श दस्तरख़ान पर बैठे। दोस्त अहबाबा का पूरा जमघट था। तब तक दिल्ली में बिजली तारों से नहीं बाँधी गई थी। सुगन्धित मोमबत्तियाँ शमादानों में जल रही थीं।

खाना खाने से सभी ख़ुश हुए। नई बावर्चिन की तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। दोस्तों ने कहा—ज़रा उसे बुलाइए और इनाम दीजिए।

इलाहीबख़्श ने बावर्चिन को बुला भेजा। उसने कहा—आक़ा से दस्त-बदस्ता अर्ज़ है कि मैं ग़ैर-मर्दों के सामने बेपर्दा नहीं हो सकती। हाँ, आक़ा से पर्दा फ़ज़ूल है। दोस्त लोग मन मार कर रह गए। मगर इलाहीबख़्श के मन में प्रति क्षण बावर्चिन को देखने की बेचैनी बढ़ चली। एकान्त होने पर उन्होंने उसे बुला भेजा। बावर्चिन ने जवाब दिया—मेरे मिहरबान मालिक ! सफ़र, मिहनत और भूख

से बेदम तथा कपड़ों से ग़लीज़ हूँ—ख़िदमत में हाज़िर होने के क़ाबिल नहीं।

इलाहीबख़्श स्वयं भीतर गए और बावर्चिन के सामने जा खड़े हुए। बोले—क्या मैं तुम्हारी मुसीबत का दास्तान सुन सकता हूँ? यह तो मैं समझ गया कि तुम शरीफ़ ख़ानदान की दुखियारी हो।

बावर्चिन ने अच्छी तरह अपना बुर्क़ा ओढ़ कर कहा—मालिक! मेरा कोई दास्तान ही नहीं!

"क्या मुझसे पर्दा रक्खोगी?"

"यह मुमकिन नहीं है!"

"तब?"

"क्या आप मुझे देखना चाहते हैं?"

"ज़रूर, ज़रूर!"

वह मैला और फटा बुर्क़ा चम्पे की समान उँगलियों ने हटा कर नीचे गिरा दिया। एक पीली किन्तु अभूतपूर्व मूर्त्ति, जिसके नेत्रों में पानी और होठों में रस था, सामने दीख पड़ी।

इलाहीबख़्श ने आँखों की धुन्ध आँखों से पोंछ कर, जरा आगे बढ़ कर कहा—तुम्हें, आपको मैंने कहीं देखा है?

"जी हाँ, मेरे आक़ा! मेरे दादाजान की मिहरबानी से, लाल क़िले के भीतर, जब आप मेरी डोली में लगाए जाने के लिए चाबुकों से लहू-लुहान किए गए थे, तब यह बद-

नसीब गुलबानू आपको तसल्ली देने तथा और भी कुछ देने आपकी ख़िदमत में आई थी। उम्मीद थी, मर्द औरत की अमानत—ख़ासकर वह अमानत, जो दुनिया की चीज़ नहीं, जिसके दाम जान और क़ुर्बानी हैं, सँभाल कर रक्खेंगे। पर पीछे यह जानने का कोई ज़रिया ही न रहा कि हुज़ूर ने वह अमानत किस हिफ़ाज़त से कहाँ छिपा कर रक्खी? ग़दर में वह रही या मेरे बाबाजान के तख़्त के साथ वह भी गई?

इलाहीबख़्श का मुँह काला पड़ गया। बदहवासी की हालत में उनके मुँह से निकल पड़ा—आप शाहज़ादी गुलबानू×××?

गुलबानू ने शान्त स्वर में कहा—वही हूँ जनाब! मगर डरिएगा नहीं! अगर ग़दर में मेरी अमानत लुट भी गई होगी, तो वह माँगने जनाब की ख़िदमत में नहीं आई हूँ। अब गुलबानू शाहज़ादी नहीं, हुज़ूर की क़नीज़ है—महज़ बावर्चिन है! मेरे आक़ा, क्या बाँदी के हाथ का खाना पसन्द आया? क्या बदनसीब गुलबानू की नौकरी बहाल रह सकेगी?

इलाहीबख़्श बेहोश होने लगे। वे सिर पकड़ कर वहीं बैठ गए। गुलबानू ने पङ्खा लेकर झलते हुए कहा—जनाब के दुश्मनों की तबीयत नासाज़ तो नहीं, क्या किसी को बुलाऊँ?

इलाहीबख्श ज़मीन पर गिर कर शाहज़ादी का पल्ला चूम कर बोले—शाहज़ादी, माफ़ करना ! मैं नमकहराम हूँ।

"मैं जानती हूँ। मगर हुज़ूर, यह तो बहुत छोटा क़सूर है। क्या हुज़ूर यह नहीं जानते कि औरतें दिल और मुहब्बत को सलानत से बहुत बड़ी चीज़ें समझती हैं ? क्या आप यक़ीन करेंगे कि १२ साल तक मैं आपकी उस ज़मीन में घायल तड़पती, सूरत को आँखों में बसा कर जीती रही। जो कुछ बन सका, बाबाजान से कह कर किया। मैं जानती थी कि मिल न सकूँगी, मगर आपको दुनिया में एक रुतबा देने की हरस थी—वह पूरी हुई।

इलाहीबख्श पागल की तरह मुँह फाड़ कर सुन रहे थे।

शाहज़ादी ने कहा—जब बाबाजान ने आपकी दग़ा और अङ्गरेज़ों से आपके मिल जाने का हाल कहा, तो दिल टूट गया। मगर उस दिन से अब काम ही क्या ? वह टूटे या साबूत रहे, आख़िर अनहोनी तो हो गई—एक बार फिर मुलाक़ात हो गई। जहे क़िस्मत !

इलाहीबख्श भागे। वे चुपचाप घर से निकले। नौकर-चाकर देख रहे थे। उसके बाद किसी ने फिर उन्हें नहीं देखा !

वेश्या

केदारा

शिमला-शैल की बहार जिसने आँखों से नहीं देखी उससे हम अब क्या कहें ? बीसवीं शताब्दी का मन्त्र-बद्ध भौतिक बल प्रतापी यूरोप के श्वेत-दर्प के सम्मुख आज्ञाकारी कुत्ते की तरह दुम हिलाता है। फिर शिमला-शैल पृथ्वी के एकमात्र अवशिष्ट साम्राज्य की नखरेदार राजधानी है, जहाँ बैठ कर दूध के समान सफ़ेद और रमणी के समान चिकने सफ़ाचट मुखवाले—परन्तु बहादुर साहब लोग—तुषार और शीतल वायु के झोंकों का अखण्ड आनन्द लेते हुए, लूओं में झुलसते हुए अस्थि-चर्मावशिष्ट भारत के ३३ करोड़ मनुष्यों पर हुक्म चलाते हैं। जिनकी असली तलवार गहना, और क़लम असली तलवार है, वे जो न करें सो थोड़ा। ग्रीष्म की प्रचण्ड धूप में घोड़े की पीठ पर लोहा लेने वाले भारत के नृपतियों के वंशधर भी गोरी मिसों के हाथ की चाय पीने का लोभ सम्वरण न कर, अपनी निरीह अधम प्रजा को लूओं में झुलसते छोड़, ग्रीष्म में शिमला-शैल पर जा पहुँचते हैं। वही शिमला-शैल अपनी मनोरम घाटियों, हरी-भरी पर्वत-शृङ्खलाओं के पीछे सुदूर आकाश

में हिमालय के श्वेत हिमपूर्ण शिखरों को जब सुनहरी धूप में दिखाता है, तब नैसर्गिक शोभा का क्या कहना है ? फिर प्रकाण्ड धवल अट्टालिकाएँ जहाँ तडिद्गामिनी सुन्दरी अधम दासी की तरह सेवा करती हैं—जब सुरा और सुन्दरियों से परिपूर्ण हैं—तब इस प्रतापी ब्रिटिश-छत्रछाया में अभयदान प्राप्त महाराजाधिराजों और राजराजेश्वरों को अब और क्या चाहिए ? दिन-रात सुरा-सुन्दरी और प्रभु-पद-वन्दन में उनकी ग्रीष्म इस तरह बीत जाती है, जैसे किसी नवदम्पति की सुहागरात। अजी, एक बार बिजली की असंख्य दीप-मालाओं से आलोकित उन प्रासादों में इन नरपुङ्गवों को लेवेण्डर से सराबोर वस्त्रों वाली अधनङ्गी मिसों के साथ कमर में हाथ डाले थिरक-थिरक कर नाचते तो देखिए ? और उसके बाद झुक-झुक कर उनके सामने जमनास्टिक की जैसी कसरत करते और विनयाञ्जलि भेंट करते और बदले में करपल्लव का चुम्बनाधिकार, और सहारा देकर उठाने की सेवा का भार, इससे अधिक प्रारब्धानुसार। बस, अब कुछ न कहेंगे।

२

सन् १९०८ का सुन्दर प्रभात था। मई मास समाप्त हो रहा था। भारतवर्ष ज्वलन्त उत्ताप से भट्टी बन रहा था, पर शिमला-शैल पर वह प्रभात सुन्दर शरद् के प्रभात की

भाँति निकल रहा था। एक १० वर्ष की बालिका एक तितली को पकड़ने के प्रयत्न में घास पर दौड़-धूप कर रही थी। उसके शरीर पर जरी के काम की सलवार, एक ढीला रेशमी पञ्जाबी कुरता और मस्तक पर अतलस का डुपट्टा था, जो अस्त-व्यस्त हो रहा था। बालिका सुन्दरी तो थी, पर कोई अलौकिक प्रभा उसमें न थी। परन्तु उसके ओष्ठ और नेत्रों में अवश्य एक अद्भुत चमत्कार था। सुन्दर, स्वस्थ और सुखद जीवन ने जो मस्ती उसके इस बाल-शरीर में भर दी थी, उसे यौवन के निकट-भविष्य आक्रमण के पूर्व-रूप ने कुछ और ही रङ्ग दे रक्खा था। वह मानों कभी आपे में न रहती थी, वह सदा बिखरी रहती थी। उल्लास, हास्य, विनोद और मस्ती, यही उसका जीवन था। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस बालिका के सारे अङ्गों में यदि कोई अङ्ग अपूर्व था तो होंठ और आँखें थीं। हम कह सकते हैं कि मानों उसके प्राण सदैव ही इन दोनों अङ्गों में बसे रहते थे। वह देखती क्या थी—खाती थी। बहुत कम उसकी दृष्टि स्थिर होती थी। पर क्षण भर भी यदि वह किसी को देखती तो कुछ बोलने से प्रथम एक-दो बार उसके होंठ फड़कते थे—ओफ़! कौन कह सकता है कि उन होंठों के फड़कते ही उन नेत्रों से जो धारा निकलती थी, उसमें कितना मद हो सकता था। पृथ्वी पर कौन ऐसा जन्तु होगा कि जो उन नेत्रों के अधीन

न हो जाय और उन होंठों की फड़कन के गम्भीर गर्त में छिपे निनाद को अर्थ सहित समझने का अभिलाषी न हो।

इन दोनों वस्तुओं के बाद और एक तीसरी वस्तु थी, जो इन दो वस्तुओं के बाद ही दीख पड़ती थी। वह थीं वे धवल दन्त-पंक्ति, जो बड़ी कठिनाई से कदाचित् ही ठीक-ठीक प्रकट दीख पड़ती हों। उज्ज्वल, सुडौल श्वेत रेखा की, उन फड़कते होंठों के बीच से अकस्मात् प्रस्फुटित होने की, कल्पना तो कीजिए!

परन्तु एक १० वर्ष की बालिका का ऐसा नख-शिख वर्णन? पाठक हमारी इस अपवित्र धृष्टता को क्षमा करें। अच्छा, अब हम मन को विचलित न होने देंगे। अस्तु। बालिका अपने जन्म-सिद्ध गर्व और मस्तानी अदा को विस्मृत सी करती हुई तितली के पीछे फिर रही थी। निकट ही एक भद्र पुरुष बेञ्च पर बैठे उसे एकटक देख रहे हैं, इसका उसे कुछ ध्यान न था। बालिका के निकट पहुँचने पर भद्र पुरुष उठ बैठे। उन्होंने किञ्चित् हँस कर मधुर स्वर से कहा—'ग़रीब जानवर को क्यों दुख देती हो—उसने तुम्हारा कुछ चुराया है क्या?' बालिका ने क्षण भर स्तब्ध खड़ी होकर भद्र पुरुष को देखा—ओफ़! उन्हीं नेत्रों से, दो बार होंठ फड़के और उसके बाद बिजली की रेखा के समान दन्त-पंक्ति प्रकट हुई। बालिका ने बिना

हिचकिचाए कहा—'कैसी खूबसूरत है—आप ज़रा पकड़ देंगे ?'

"सिर्फ़ इसलिए कि खूबसूरत है ?"

बालिका समझी नहीं, पर उसने गर्दन हिला दी। भद्र पुरुष आगे बढ़ कर एकदम बालिका के निकट आ गए। एक प्रबल आन्दोलन उनके हृदय में आलोड़ित हो उठा। एक अस्वाभाविक उन्माद में वे कह उठे :—

"तुम खुद कितनी खूबसूरत हो ? तुम्हें कोई इसीलिए पकड़ ले तब ?" बालिका ने भद्र पुरुष को निकट आते और उपरोक्त शब्द कहते सुन, एक बार फिर उसी तरह उनकी तरफ़ देखा—उसी तरह उसके होंठ फड़के। पर वह बोली नहीं। उसने वहाँ से भागने का आयोजन किया। भद्र पुरुष हँस पड़े। उन्होंने उसके दोनों हाथ पकड़ कर कहा—लो, पकड़ी गई तो भागती हो ?

सामने से आवाज़ आई—गुलबदन !

"छोड़िए, अम्मीं बुलाती हैं ?"—बालिका ने किञ्चित् झुँझला कर कहा।

"मगर तुम्हारा नाम ?"

"मैं नहीं बताने की ?"

"तुम्हारी अम्मीं का क्या नाम है ?"

"मैं नहीं बताती, छोड़िए ?"—बालिका ने खींच कर हाथ छुड़ा लिया। वह भाग गई।

भद्र पुरुष ने क्षण भर बालिका की ओर देखा—तितली की तरह उड़ी जा रही थी। सामने कुछ दूर पर उसकी माँ और दो-तीन व्यक्ति खड़े थे। भद्र पुरुष ने निकट खड़े एक व्यक्ति से कहा—

"अहमद ?"

"हुज़ूर !"

"इसे लाओ ?"

"जो हुक्म।"

"मैं घूमता हुआ चला जाऊँगा। तुम गाड़ी ले जाओ।"

"जो हुक्म।"

३

"१० हज़ार ?"

"जो हाँ सरकार ! वह लाहौर की मशहूर तवायफ़ मुमताज बेगम की लड़की है। बुढ़िया बड़ी धाख निकली। उसने हुज़ूर को देख और पहचान लिया था। बस पैर फैला गई। बड़ी मुश्किल से सौदा पटा है।"

"वे लोग यहाँ कब आ जावेंगे ?"

"कल १० बजे।"

"गाड़ी ११ बजे चलेगी। सिवा दोनों माँ-बेटियों के उनका तीसरा कोई आदमी साथ न रहने पावेगा। इसकी हिदायत कर दी है न ?"

"जी हाँ, हुज़ूर ऐसा ही होगा।"

"और एक बात, छोटी रानी को इस वारदात की ख़बर न होने पावे ?"

"बहुत अच्छा सरकार !"

"एक रिज़र्व कम्पार्टमेण्ट उनके लिए गाड़ी में लगा रहेगा। मगर मैं आज रात को होटल में उन लोगों से मुलाक़ात करूँगा। खाना भी उन्हीं के साथ खाऊँगा। एक रिज़र्व कमरे और स्पेशल खाने का बन्दोबस्त भी कर लो—तुम ख़ुद ही चले जाओ—फ़ोन में मत कहो, जिससे कानों-कान किसी को ख़बर न हो। ठीक ९ बजे, समझे ?"

"जी हुज़ूर !"

"और सुनो, आज ११ बजे रात को मिस फ़ास्टर उसी जगह आवेगी न ?"

"ज़रूर !"

"तब होटल से लौट कर उधर चलना होगा। अब तुम जा सकते हो।"

४

ये भद्र पुरुष थे कौन ? पाठकों को सब कुछ नहीं बताया जा सकता। वे एक विस्तृत राज्य के सुजन अधिपति, श्रीमन्त महाराजाधिराज राजराजेश्वर श्री×××× थे। आप सीधे यूरोप की यात्रा से आ रहे थे और आपको राज्याधिकार प्राप्त हुए कुछ ही मास हुए थे। आपकी अवस्था २१ के लगभग थी। आपकी वेषभूषा यद्यपि

साधारण थी, परन्तु राजत्व का गाम्भीर्य मुख-मुद्रा में था। वह बालिका उसे क्या लक्ष्य कर सकती थी ?

रॉयल होटल के सर्व-श्रेष्ठ कमरे में ज्वलन्त बिजली के प्रकाश में सुन्दर रङ्गीन काँच और चीनी के पात्रों में अङ्ग-रेज़ी ढङ्ग के खाने चुने जा रहे हैं—होटल के सिद्धहस्त कर्मचारी और बैरा ज़र्क-वर्क पोशाक पहने एक यूरोपियन व्यक्ति की देख-रेख में सब कुछ सजा रहे हैं। श्रीमन्त महाराजाधिराज के पधारने का समय हो गया है। ठीक समय पर महाराज केवल एक पार्श्वद के साथ पधारे। कर्मचारी ने नतमस्तक होकर महाराज का अभिवादन किया। महाराज ने किञ्चित् हास्य-वदन से इधर-उधर देखा और कर्मचारी को धन्यवाद दिया। क्षण भर बाद पूर्व व्यक्ति ने सङ्केत से गुलबदन और उसकी माता के आगमन की सूचना दी। सब लोग बाहर चले गए। बालिका अस्वाभाविक गाम्भीर्य की मूर्ति बनी उस लोकोत्तर उज्ज्वल कक्ष में प्रातःकाल के परिचित भद्र पुरुष को सम्मुख देख कर देखती रह गई। वृद्धा ने झुक कर सलाम किया और बालिका से ज़रा भर्त्सना से कहा—बेअदब ! महाराज को सलाम कर।

बालिका ने ज़रा आगे बढ़ कर सलाम किया। महाराज ने उठ कर उसे एक कुर्सी पर बैठाया और वृद्धा को भी बठने का आदेश किया। सबके बैठने पर महाराज ने

पूर्ववत् बालिका का हाथ पकड़ कर वैसे ही हास्य-मुख से कहा—ख़ूबसूरत तितली पकड़ी गई न ?

बालिका ने नेत्रों से वही धारा छोड़ी—उसके होंठ फड़के, वह बोल न सकी, माँ की ओर देखने लगी।

वृद्धा ने कहा—महाराज ! सुबह अगर इसने कुछ गुस्ताख़ी की हो तो हुज़ूर माफ़ फ़र्मावें; लड़की बिलकुल बेअदब तो नहीं—मगर बच्ची ही तो है।

"कुछ नहीं, मगर इसने मुझे पागल बना दिया। मगर सच तो कहो, तुम दिल में नाराज़ तो नहीं। यह इन्तज़ाम तुम्हें दिल से तो पसन्द है ?"

"यह इसकी और मेरी ख़ुशक़िस्मती है, महाराज ! आप यह क्या फ़र्मा रहे हैं ? कहाँ यह क़नीज़ और कहाँ हुज़ूर ?×××"

महाराज बीच ही में बोल पड़े। उन्होंने कहा—मगर मुझे कुछ ख़ास इन्तज़ाम करना पड़ेगा, और तुम्हें उसमें मदद करनी पड़ेगी। तुम तो जानती ही हो, यह काम बहुत पोशीदा रहेगा। ख़ास कर यह मैं बिल्कुल नहीं ज़ाहिर करना चाहता कि यह तवायफ़ है और मुसलमान है। मैं उसे हर तरह की ऊँची तालीम दूँगा, और उसका रुतबा महारानी के बराबर होगा। अभी ५ साल उसे तालीम पाने का वक़्त है। तुम्हें तब तक वहीं उसके साथ रहना पड़ेगा। शहर के बाहर एक आरास्ता कोठी में तुम लोगों के

ठहरने का बन्दोबस्त कर दिया जायगा। वहाँ तुम्हें जहाँ तक मुमकिन होगा, कोई तकलीफ़ न होगी! अब कहो, इसमें तुम्हें कुछ उज्र है?

"मुतलक़ नहीं हुज़ूर, मगर मेरा वहाँ रहना कैसे मुमकिन हो सकता है, सरकार को शायद पता नहीं, मेरा निजू ख़र्च २ हज़ार रुपए माहवार है।"

"वह तुम्हें मिलेगा।"

"तब हुज़ूर के हुक्म को कैसे टाला जा सकता है।"

"तुम लोगों को हिन्दू-लिबास में रहना पड़ेगा, और क्या-क्या, कैसे-कैसे किया जायगा, यह हिदायत कर दी जायगी। उम्मीद है, समझदारी और होशियारी से काम लोगी। सिर्फ़ तुम दोनों माँ-बेटियाँ चलेंगी। तुम्हारा अपना एक भी नौकर न जाने पाएगा, समझीं?"

"जो इर्शाद हुज़ूर!"

"तब बातचीत ख़तम हुई। अब बेतकल्लुफ़ी से खाना खाओ-पीओ, मगर एक बात—इससे भी—इसका क्या नाम है? गुलबदन!"

"इधर तो आओ प्यारी गुलबदन!" इतना कह कर उन्होंने बालिका का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया। फिर वही दृष्टि और वही उत्फुल्ल होंठ की फड़कन! महाराज ने अधीर होकर बालिका का प्रगाढ़ चुम्बन ले लिया। बालिका छटपटा कर महाराज के कर-पाश से

भागी। वृद्धा ने घटना देखी-अनदेखी करके खाने का आयोजन किया। बालिका ने कहा—अम्मीं चलो!

"ठहरो बेटी, महाराज की दावत में हम लोग आए हैं। फिर बिना खाए कैसे जा सकते हैं। बैठो और महाराज से हुक्म लेकर खाना खाओ।"

बालिका चुपचाप बैठ गई। उसने महाराज की ओर झाँक कर भी न देखा।

खाना खतम होने पर तत्काल माँ-बेटियाँ उठ खड़ी हुईं। माता के आदेश से भयभीत-सी होकर गुलबदन ने सलाम किया और चल दीं। इसी समय नौकर ने महाराज के कान में कहा—महाराज, मिस फ़ास्टर ड्राइङ्ग रूम में सरकार की प्रतीक्षा कर रही हैं।

महाराज उन्मत्त की भाँति उधर लपके।

५

श्रावण की नन्हीं फुआरों से भरी हुई ठण्ढी हवा के झकोरे, ग्रीष्म की ज्वलन्त ऊष्मा सहने के बाद कैसे प्रिय प्रतीत होते हैं, मन कैसा मत्त मयूर सा नाचने लगता है, यह कैसे कहा जाय? नन्हीं फुआरों के साथ हवा के झोंके भीतर घुस रहे थे—बालिका एक मसनद के सहारे बढ़िया विलायती क़ालीन पर ज़रदोज़ी के काम की बहुत महीन और बहुमूल्य साड़ी पहने स्थिर बैठी थी। उसको वह बाल-सुलभ चञ्चलता, जो मनुष्य का मन अपनी ओर हठात्

खींच लेती थी, इस समय उसमें न थी—उसके सम्मुख एक वृद्ध पुरुष अपनी सफ़ेद डाढ़ी को बीच में से चीर कर कानों पर चढ़ाए, बड़ा सा सफ़ेद साफ़ा बाँधे दुजानू बैठे थे। उनके हाथ में तम्बूरा था। वे एमन कल्याण के स्वरों को अपने कम्पित वृद्ध कण्ठ से निकाल, उँगली के आघात से तन्तुवाद्य पर घोषित कर रहे थे। तत्क्षण ही बालिका को उनका अनुकरण करना था। वह उसके मस्तिष्क पर भारी भार था। बालिका उन सुन्दर सुखद भौंकों से ज़रा भी विचलित न होकर वृद्ध के मुख से निकलते और तम्बूरे के तारों से टकराते स्वरों को मनोयोग से सुन रही थी। वृद्ध ने तारों के पास कान झुका कर कहा—बोलो तो बेटी! तुम्हारा गला तो बहुत साफ़ है, देखो मध्यम दोनों लगेंगे; समझीं, यह एमन के स्वर हैं।

बालिका का भीत-कम्पित स्वर, उसकी माधुरी मूर्ति, और कोमल कण्ठ उस अस्तङ्गत सूर्य की बरसाती प्रभा में मिल कर ग़ज़ब कर गया। वृद्ध पुरुष तम्बूरे पर झुक कर मूर्छना के साथ ही वाह! कर गए।

उसी कक्ष में एक गद्देदार आराम-कुर्सी पर श्रीमन्त महाराजाधिराज एक खिड़की से आती उन्मुक्त वायु का पूरा स्वाद ले रहे थे। बढ़िया फ्रान्स की बनी सुगन्धित सिगरेट को एक ओर फेंक वे उठ कर बालिका को घूरने लगे। बालिका ने उस ओर देखा। बीच ही में उसका तार टूट

गया—वह चुप हो गई। महाराज ने आकर उसके दोनों हाथ पकड़ कर उठा लिया। उन्होंने कहा—उस्ताद जी, बस अब आज और नहीं—आप जाइए। वृद्ध पुरुष झटपट उठ कर अभिवादन करके चल दिए। उन्हें इस कठिन अवस्था में भी बालिका ने मस्तक झुका कर प्रणाम किया। महाराज ने बालिका को दोनों हाथों में उठा कर कहा—"गुलबदन! तुम कब? ओफ़! कब-कब! कब?" उन्होंने उसके उसी उत्फुल्ल होंठ को चूम लिया और कस कर छाती से लगा लिया। बालिका मानों मूर्च्छित हो गई। वह शिथिल-गात्र, निस्पन्द-गति से उनके अङ्क से खिसकने लगी। महाराज ने उसे कौच पर लिटा दिया—बालिका धीरे से उठ कर अपने वस्त्र सम्हालने लगी।

महाराज ने कहा—गुलबदन! तुम कितने दिनों में बड़ी हो जाओगी?

गुलबदन महाराज का मतलब न समझ कर नीची नज़र किए खड़ी रही।

महाराज ने कहा—कैसी ठण्ढी हवा चल रही है। तुम्हें अच्छा लगता है?

बालिका ने स्वच्छ आँखें ऊपर को उठा कर कहा—जी हाँ।

"तुम्हें मालूम है, तुम्हारा नाम क्या रक्खा गया है?"

"जी हाँ!"

"क्या भला ?"

"गुलाबबाई"—बालिका के मुख पर हास्य-रेखा दौड़ गई और एक बार बालिका का मुख चुम्बन करके महाराज ने उसे दूसरे कमरे में भेज दिया।

६

उन्मत्त यौवन धीरे-धीरे आया और एकदम आक्रान्त कर गया। पीले रङ्ग पर लाली और चमक, गुलाबी प्रभा पर मानिक की चमक एक अभूतपूर्व रङ्ग दिखा रही थी। किसी पर दृष्टि पड़ते ही कुछ क्षण निर्निमेष देखना और फिर उत्फुल्ल होंठों का फड़कना, यह बाल्यकाल का स्वभाव इस गदराए हुए यौवन पर बिजली गिरा रहा था। महाराजाधिराज की आँखों में गुलाब, नस-नस में गुलाब, जीवन और मृत्यु में गुलाब थी। गुलाब को विलास और ठाठ-बाट के जो सुख प्राप्त थे, वे पाश्चात्य जीवन के विलासी के कल्पना की वस्तु नहीं। वह महाराज के नौ राजप्रासादों में से किसी को किसी समय अपनी इच्छानुसार, जिस प्रकार चाहे इस्तेमाल कर सकती थी। सकड़ों दास-दासियाँ उसकी आज्ञा, वह चाहे जैसी हो, पालन करने और उसके सुख-रक्षार्थ उसकी सेवा में रहती थीं। जो कुछ वह चाहती थी, परिणाम और धन-व्यय का विचार बिना किए तत्काल प्रबन्ध किया जाता था। उसके चित्रमयी वस्त्र, विशेष करके रेशम और मखमल के अचिन्त्य

रूप से अमूल्य और बढ़िया होते थे और वह काश्मीर तथा बनारस में विशेष रूप से तैयार किए जाते थे। उसका ज़ेवर कई लाख रुपयों की क़ीमत का था। कुछ तो उसके लिए पैरिस से मँगाए गए थे। एक उपयुक्त तथा सुख-भोगमयी राल्स रॉयस मोटर-गाड़ी सदैव उसकी सेवा में रहती थी, जिस पर वह सन्ध्या और प्रातःकाल की सैर करने बाहर निकलती थी। उसकी दूर की यात्रा के लिए महाराज की स्पेशल ट्रेन में उसके लिए सदैव एक कमरा रिज़र्व किया जाता था। ऐसे दुर्लभ राज-सुख उस बालिका को, उसके यौवन के प्रारम्भ में नसीब हुए—केवल उस दृष्टि और उन फड़कते होंठों के बदले।

७

दश वर्ष व्यतीत हो गए। दिल्ली स्टेशन पर ख़ूब धूम थी। किसी राजा की स्पेशल आ रही है। अङ्गरेज़ ऑफ़ीसर और कुली प्रत्येक के मुख पर यही एक बात थी। प्लेटफ़ॉर्म सज रहा था और नगर के कुछ ख़ास गण्य-मान्य व्यक्ति महाराज की स्पेशल की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्पेशल आई। ख़ास कमरे पर ख़स के पर्दे पड़े थे और उन पर पानी ऊपर से टपक रहा था। बिजली के पङ्खे की सर-सराहट बाहर से सुनाई पड़ती थी।

गाड़ी खड़ी होने के कुछ क्षण बाद एक उच्च-पदस्थ कर्मचारी ने प्लेटफ़ॉर्म पर समुपस्थित पुरुषों की अभ्यर्थना

करते हुए कहा—श्रीमती महारानी महोदया आप सब सज्जनों की सेवा में अपना हार्दिक धन्यवाद देती हैं। श्रीमन्त महाराजाधिराज कल दूसरी गाड़ी से पधारेंगे—कारण-विशेष से वे इस समय न पधार सके। दो-एक सम्भ्रान्त पुरुषों ने महाराज के स्थान पर महारानी को ही अपना सम्मान प्रदान करने के लिए शिष्टाचार के दो-चार शब्द कहे।

हठात् सैलून का द्वार खुला और महारानी स्वयं उतर कर प्लेटफ़ॉर्म पर आ खड़ी हो गईं। आगतजन सम्भ्रान्त इधर-उधर हट गए! महारानी बारीक धानी परिधान पहने थीं। बहुमूल्य हीरे के आभरण उनके शरीर पर दमक रहे थे। कर्मचारी और दीवान अवाक् रह गए। महारानी ने किसी की ओर लक्ष्य न देकर अपने ख़ास ख़िदमतगार को हुक्म दिया कि वह उनका ख़ास सामान गाड़ी से उतार ले। उनकी इस आज्ञा पर सभी चकित थे। हठात् एक व्यक्ति भीड़ से निकल कर महारानी के निकट आ खड़ा हुआ। महारानी ने आश्वस्त होकर कहा—ज़मीर! मैंने समझा, तुम्हें मेरा तार नहीं मिला! अच्छा सब ठीक है?

"जी हुज़ूर, मेल जाने में अभी पौन घण्टा है, फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा रिज़र्व है। हुज़ूर के साथ और कितने आदमी हैं?"

"सिर्फ़ एक ख़िदमतगार !" इसके बाद महारानी ने कर्मचारी से कहा—"मुझे ज़रूरी काम से अभी बम्बई जाना ज़रूरी है, आप लोग महाराज से अर्ज़ कर दें।"

"मगर हुज़ूर ! महाराज की तो आज्ञा नहीं है।"

"मैं महाराज की ग़ुलाम नहीं हूँ !"

"किन्तु महारानी !×××"

"मैं जो कहती हूँ, वह करो ! ज़मीर, मेरा सामान डिब्बे में ले जाओ।"

आगन्तुक स्वागतार्थी सम्भ्रान्त पुरुषों को भीत-चकित करती हुई महारानी गुलाबबाई उर्फ़ गुलबदन बेगम भीड़ को चीरती हुई, सामने खड़ी मेल-ट्रेन के फ़र्स्ट क्लास कम्पार्टमेण्ट के रिज़र्व डिब्बे में बैठ गईं।

८

कुबेर-नगरी बम्बई में बीसवीं शताब्दी के समस्त वैभव पूर्ण विस्फारित हैं। सम्पदा और ऐश्वर्य का यह जीवन सम्पदा और ऐश्वर्य के उस जीवन से भिन्न है, जो रईसों और राजाओं को प्राप्त है। राजा-रईस ख़ाली जेब रहने पर भी जो शान-ठाठ और रईसी चोचले करते हैं, वे इस कुबेर-नगरी में भरी जेबों से भी सम्भव नहीं। परन्तु धन जहाँ है वहाँ विलासिता है ही, मुँह फाड़ कर धन किसने खाया है ? धन का यथार्थ मार्ग तो मूत्र-मार्ग है। धन ने जहाँ यह मार्ग देखा, फिर वह कहाँ रह सकेगा ?

एक सजी हुई अट्टालिका में एक सुन्दर, किन्तु ज़रा भारी शरीर का युवक कौच पर पड़ा प्यासी आँखों से सामने हारमोनियम पर उँगली फेरती हुई सुन्दरी के मुख और उभरे हुए अधढके शरीर को देख रहा है। शराब का प्याला और सुगन्धित शराब का पात्र उसके निकट है। रह-रह कर वह मद्यपान कर रहा है। यह सब है, पर गाने का रङ्ग नहीं जमता। विकल होकर सुन्दरी ने बाजा एक ओर सरका दिया, वह थक कर एक कौच पर गिर पड़ी। युवक ने दौड़ कर कहा—क्या तबियत अच्छी नहीं, प्यारी ?

"नहीं, मुझे ज़रा चुप पड़ी रहने दो।"

"पर मुझसे नाराज़ तो नहीं हो ?"

"नहीं, मगर मुझसे ज़रा देर बोलो मत।"

युवक स्तब्ध हुआ। सुन्दरी दीवार की ओर मुँह करके लेट गई। वह सोच रही थी—"यह कैसा प्रारब्ध-भोग है ? हे परमेश्वर ! मैं कहाँ से कहाँ आ गिरी ? भाग्य-चक्र भी कैसा है ? उसमें और इसमें कितना अन्तर है, पर जो हो गया वह तो अब लौट सकता नहीं। परन्तु×××"—उसके मुँह से एक साँस निकली, वह तड़प उठी।

युवक ने उठ कर उसका सिर गोद में लेकर कहा—गर्मी के कारण तुम्हारी तबियत ख़राब हो गई है, चलो ज़रा समुद्र-किनारे घूम आवें। गाड़ी बाहर है ही।

सुन्दरी सहमत हुई। क्षण भर में गाड़ी उन्हें लेकर हैङ्गिङ्ग गार्डन की ओर उड़ रही थी। हठात् एक मोटर बड़े ज़ोर से टकरा गई। ड्राइवर के हज़ार सावधानी करने पर भी युवक औंधे मुँह गिर पड़े। सुन्दरी ने सामने की मोटर में बैठे व्यक्तियों को देखा, उसके मुख से चीख़ निकल गई। वह सहम कर सीट पर चिपक गई। एक व्यक्ति ने ललकार कर कहा—नाक काट लो।

इसके हाथ में रिवॉलवर था। दूसरा व्यक्ति धीरे-धीरे मोटर की ओर बढ़ा। सुन्दरी औंधे मुँह गाड़ी में लोट कर चिल्लाने लगी। युवक ने आगे बढ़ कर आततायी को रोक कर उसे एक धक्का दिया और उसी क्षण एक गोली उसकी छाती को चीरती हुई निकल गई। आततायी युवती पर छुरी लेकर चढ़ गया।

अभी दिन काफ़ी था। सड़क पर यथेष्ट यातायात था। बहुत लोग झुक पड़े। आततायी अब भागने का उपक्रम करने लगे। परन्तु पुलिस की सावधानी और भीड़ की मदद से वे गिरफ़्तार हुए। सुन्दरी भयभीत और साधारण घायल अवस्था में अस्पताल में पहुँचाई गई।

होश में आने पर उसने अस्पताल के कमरों की खिड़कियों पर दृष्टि गाड़ कर देखा—कितनी स्मृतियाँ आईं और गईं। उस शून्य में उसकी दृष्टि गड़ गई। उसके होंठ फड़के, पर हाय! वहाँ उस फड़कने को देखने वाला कौन था!

युवती दोनों हाथों से मुँह दबा कर रोने लगी—हाय ! मैंने क्या किया ?

× × ×

"क्या हुआ ?"

"तीन को कालापानी, दो को फाँसी, एक पागल हो गया ।"

"पागल हो गया ?"

"जी हाँ ।"

"मगर सभी को फाँसी क्यों न हुई ?"—फन कुचली हुई नागिन की तरह चपेट खाकर युवती ने बिछौने से उठ कर कहा । उसी तरह उसके होंठ फड़क उठे । उसने पूछा—"और उन्हें ?"

"उन्हें गद्दी त्याग देने को विवश किया जा रहा है । सुना है, वे राजपाट छोड़ कर यूरोप चले जायँगे ।"

युवती के होंठों में फिर फड़कन उत्पन्न हुई । उसकी दृष्टि दूर पर काँपते हुए वृक्ष के पत्तों पर अटक गई । उसके सारे शरीर में कम्प उत्पन्न हो गया । वह उठी । उसने ज़मीन में लात मार कर कहा—मैं अपनी माँ की बेटी हूँ, मेरा नाम है गुलबदन । बादशाहों की गद्दियाँ इन ठोकरों से बर्बाद होंगी और लोगों की जानें इन जूतियों पर क़र्बान होंगी—यह मैं जानती हूँ, मगर ज़मीर !

"हुज़ूर !"

"बदला पूरा नहीं हुआ।"

"सरकार, सेठ ने १ लाख रुपया आपके नाम बिल किया है, यह अदालत में उनके सॉलीसीटर से मालूम हुआ।"

"सेठ दिलदार था, मगर महाराज न था। अफ़सोस है, बेचारा मर गया। अच्छा, मैं आज ही पञ्जाब जाऊँगी।"

"आज ही ?"

"हाँ, मेरे एक दोस्त का तार आया है—वे मेरी इन्तज़ारी कर रहे हैं ?"

"बेहतर हो कि यहाँ के झगड़े ख़तम होने पर जायँ।"

"बेवक़ूफ़, परसों मेरे निकाह की तारीख़ है !" सुन्दरी एक मर्म-भेदिनी दृष्टि डालती चली गई।

९

"गुलबदन ! बेरहमी न करो ?"

"बेरहमी क्या करती हूँ ?"

"इस वक़्त मैं तङ्गदस्त हूँ, रुपया जल्द ही मेरे पास आने वाला है ?"

"मगर मैं पेट में पत्थर बाँध कर तो जी नहीं सकती ?"

"तुम्हें क्या भूखों मरने की नौबत आ रही है ? कोठी, बङ्गला, मोटर, नौकर—सभी तो हाज़िर हैं। पाँच सौ का मुशाहिरा भी कुछ कम नहीं !"

"मेरे नौकरों के नौकर ऐसे कोठी, बङ्गले और मोटरों पर औक़ात बसर करते हैं। और पाँच सौ रुपया रोज़ाना ख़र्च करने की मैं आदी हूँ!"

"मगर गुलबदन! मैं राजा तो नहीं!"

"फिर रानियों पर क्यों मन चलाया?"

"रानी भी तो राज़ी थी!"

"रानी बनी रहे तभी तक!"

"वरना?"

"वरना? वरना रास्ता नापो, मैं अपना ठिकाना देख लूँगी!"

"तुम—तुम यह कहती क्या हो? मैं तुम्हारा शौहर हूँ!"

"ज़िन्दगी और जिस्म सलामत रहेगा तो ऐसे हज़ार शौहर पैरों के तलुए सहलावेंगे!"

"तुम्हारा इरादा क्या है?"

"तुम अपना रास्ता देखो, और मैं अपना!"

"यह नहीं होगा!"

"यही होगा, तुम्हारी क्या हैसियत जो मेरी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ चूँ करो!"

"क्या यही तुम्हारा इरादा है?"

"यही है।"

"मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा!"

"इसकी इत्तिला अभी मैं पुलिस को किए देती हूँ।"

सुन्दरी ने टेलीफ़ोन पर उँगलियाँ घुमाईं, युवक ने घुटनों के बल बैठ कर कहा—ख़ुदा के लिए, गुलबदन, ऐसा ज़ुल्म न करो!

"कहती हूँ सामने से हट जाओ, वरना ज़लील होना पड़ेगा?"

युवक की आँखों से पहले आँसू फिर आग की ज्वालाएँ निकलीं। उसने कहा—"उफ़ बेवफ़ा रण्डी!" और वहाँ से चल दिया!

१०

दिल्ली में बड़े-बड़े पोस्टर चिपके दीख पड़ते थे, और आबाल-वृद्ध उन्हें पढ़ और चर्चा कर रहे थे। प्रसिद्ध गुलबदन का मुजरा स्थानीय थिएटर में होगा। लोगों के दिल गुदगुदाने लगे। राजगद्दियों को विध्वंस करने वाली, फाँसी और कालेपानी की सीधी सड़क, लगातार शौहर बनाने और बिगाड़ने वाली, वह अद्भुत वेश्या कैसी है? थिएटर के द्वार पर उसका एक रङ्गीन फ़ोटो काँच के आवरण में लगा दिया गया था। लोग देख रहे थे और जीभ चटखा रहे थे। नीचे पाँच रुपए से चवन्नी तक के टिकट की दर थी।

अभिनय के समय पर भीड़ का पार न था। चवन्नी की खिड़की पर आदमी पर आदमी टूट रहे थे। थिएटर-

हॉल खचाखच भर रहा था। क्षण-क्षण में तालियों की गड़गड़ाहट के मारे कान के पर्दे फटे जाते थे। लोग तरह-तरह का शोर कर रहे थे।

एकाएक सैकड़ों बत्तियों का प्रकाश जगमगा उठा और वह पुराना सौन्दर्य नए वस्त्रों में सज कर सम्मुख आया। वह स्त्री—जो राजपरिवार की महारानी का पद भोग चुकी थी—जिसे सभी सम्पदाएँ तुच्छ थीं—आज अपने सौन्दर्य को इस तरह खड़ी होकर चवन्नी वालों को बिखेर रही थी। देखने वाले दहल रहे थे। धीरे-धीरे उसने गाना शुरू किया—साज़िन्दों ने गत मिलाई। चवन्नी वालों ने शोर किया—ज़रा नाच कर बताना, बी साहेब!

शोर बढ़ता गया। क्षोभ, ग्लानि और लज्जा से गुलबदन बैठ गई। एक सहृदय पुरुष ने सिर हिला कर कहा—"हाय री वेश्या !!!" और वे बाहर निकल आए! वे दूर तक कुछ सोचते और रङ्गमञ्च का शोर सुनते अन्धकार में 'वेश्या' के व्यक्तित्व पर विचार करते चले जा रहे थे। पृथ्वी पर कौन इस तरह इस शब्द पर कभी विचार करने का ऐसा अवसर पाएगा?

जीवन्मृत

जीवन्मृत

पन्द्रह वर्ष का लम्बा काल एक भयानक दुःस्वप्न की तरह व्यतीत हो गया। एक-एक क्षण, एक-एक श्वास, जीवन की एक-एक घड़ी, हज़ारों बिच्छुओं की दंश-वेदना में तड़प-तड़प कर व्यतीत हुई है। वह कल्पना और मानवीय विचार-धारा से परे का दुःख न कहना, स्मरण न करना ही अच्छा है। मानों मैंने एक महान् पवित्र व्रत लिया था, जो एक प्रकृत योद्धा को सजने योग्य था, जिसके लिए चरम कोटि के त्याग, साहस, सहिष्णुता, वीरता और प्रतिभा एवं ओज की आवश्यकता थी। अपनी शक्ति और व्यक्तित्व पर बिना ही विचार किए मैं रणपोत पर सैनिक गर्व से उद्ग्रीव होकर चढ़ गया। सहस्रावधि नर-नारियों ने हर्ष और आशा में भर कर उल्लास प्रकट किया, साधुवाद दिए, पर मानों प्रशान्त महा-सागर में एक साधारण चक्कर खाकर ही वह दृढ़ पोत जल-मग्न हो गया और देखते ही देखते उसका अस्तित्व विलीन हो गया। रह गया अकेला मैं, साधन, शक्ति और अवलम्ब से रहित, एकमात्र तख्ते के एक टुकड़े के सहारे तैरता हुआ। अन्ध निशा में, एक सुदूर तारे के क्षीण

प्रकाश में, उस दुर्धर्ष महाजल-राशि पर, जीवन के मोह के कच्चे धागे के आसरे भटकता रहा। १५ वर्ष तक अनन्त हिंस्र जीव-जन्तुओं का आक्रमण, हड्डियों में कम्प उत्पन्न करने वाला शीत, नस-नस से प्राणों को खींच लेने वाली पर्वत-समान जलराशि की उत्तङ्ग तरी के थपेड़े, उस असहाय अवस्था में सहन करता रहा। १५ वर्ष तक! और कितना भयानक, कितना रोमाञ्चकारी, कितना अद्भुत, यह जीवन का मोह रहा! ये प्राण कितने बहुमूल्य प्रमाणित हुए। क्या पृथ्वी पर और कोई मनुष्य भी इस तरह जिया होगा?

२

प्रकृति की एकान्त स्थली पर मैंने अपना शैशव और यौवन का प्रारम्भ व्यतीत किया। वहाँ एक ही रङ्ग था—त्याग, शान्ति, तप और निर्वासना। जब तक शैशव पर विधान का शासन रहा, मेरे बाहरी पीत-वसन और अन्तस्तल का भी एक रङ्ग रहा, पर यौवन के विकास ने बाहर-भीतर में भेद डाल दिया। हाँ, संसर्ग तो कुछ न था—जो था साधारण—परन्तु नैसर्गिक वासनाओं ने प्रस्फुटित होते-होते उस त्याग, तप, निर्वासना—सबसे विद्रोह करना शुरू किया। मैं ब्रह्मचारी था। उस तपस्थली पर मेरे जैसे बहुत थे, पर हमारे गुरू और उपजीवी ब्रह्मचारी न थे। हम नैसर्गिक रह ही न सके, हमारी सादगी में भी एक शान थी, हमारे

ब्रह्मचर्य में भी एक फैशन था, हमारे त्याग-तप में भी प्रदर्शन था। जगत के सर्व-साधारण कैसे जीवन के पथ पर बढ़ते हैं, मैं नहीं जानता; पर हम सभी में हास्य, उल्लास, गोपनीय वासनाएँ तथा तमोमयी भावनाएँ थीं। उस आश्रम में मैं ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हूँ। मुझे सर्वश्रेष्ठ होना ही चाहिए—यह मैं शीघ्र ही समझ गया। कैसे? यह नहीं बताऊँगा। आचार्य का पुत्र था। राजपुत्र तो जन्म ही से सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इसमें अनुचित क्या? मैं सर्व-प्रथम, सर्वश्रेष्ठ पुरुष होकर उस दुर्धर्ष आश्रम से बाहर आया। संसार कैसा सुन्दर था! मैं देखते ही मोहित हो गया। वह मेरे ऊपर श्रद्धा, आशा और प्रेम बिखेर रहा था। मैंने जाना भी न था कि मैं जीवन में इतना आदर पाऊँगा। वह आशातीत आदर पाकर मैं गर्व से नाच उठा। मैंने अच्छी तरह अपनी मानसिक दुर्बलताएँ अपने पीले उत्तरीय में लपेट कर छिपा लीं, और मैं असाधारण पुरुष की तरह खुले संसार में पैर के धमाके से हलचल मचाता हुआ आगे बढ़ चला।

स्त्री को सदैव दूर से देखा और अनुमान से समझा था। आश्रम में स्त्री-मात्र दुष्प्राप्य थी। फिर मैं तो मातृ-हीन बालक ठहरा। परन्तु सदैव ही मैंने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में विचारा। फिर भी वह क्या वस्तु है, कुछ समझा नहीं।

पर, विशाल जगत में आते ही स्त्री भी मिली। अद्भुत वस्तु थी। इसे देख, फिर और किसी को देखने की इच्छा ही न होती थी। मैं जगत को भूल गया। स्त्री-शरीर, स्त्री-हृदय, स्त्री-भावना, यह मेरा खाने और बिखेरने का अब विषय रही, परन्तु जीवन का एक नूतन अनिर्वचनीय आनन्द तो अभी मिलना शेष ही था। वह मुझे शिशु कुमार के अवतरण होते ही मिला। आह! जगत के पर्दों के भीतर क्या-क्या छिपा है, और उसे भाग्यवान किस तरह अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं, यह मैं क्या कभी विचार भी सकता था?

वाह रे मेरा सुखी जीवन और मेरा नवीन संसार! मैं सोता था हँस कर, जागता भी था हँस कर! शिशु कुमार और उसकी माता, ये दोनों ही मेरे हास्य के साधन थे। शीतकाल के प्रभात की सुनहरी धूप की तरह वह मेरा हास्य मुझे कैसा सजता था! आज १५ वर्ष सें मैं उस अतीत हास्य की कल्पना करके भी एक सुख पाता हूँ।

देश मेरा प्राण और देश-सेवा मेरा व्रत था। यह बात कुछ मेरे मन के भीतर नहीं उपजी, प्रत्युत मुझे बचपन से सिखाई गई थी। उस आश्रम की उन अति गरिष्ठ पुस्तकों के अलावा—जिनसे सदैव भयभीत रहने पर भी मेरा पिण्ड नहीं छूट सका था—यही एक प्रधान विषय था, जिसे आश्रम के गुरु से शिष्य तक भिन्न-भिन्न शब्दों और शैलियों में सोचते-विचारते थे।

देश ही मातृभूमि है, वह मातृभूमि माता—जन्मदात्री माता—से भी अधिक पूजनीय है। वही मातृभूमि विदेशी अत्याचारियों द्वारा दलित है। उसका उद्धार करना हमारे जीवन का एक व्रत है। बस, यही हमारे देश-प्रेम की रूप-रेखा थी। मातृभूमि का उद्धार कैसे किया जाय, यह मैंने न कभी सोचा, न समझा, न किसी ने मुझे बताया ही। मैं मातृभूमि का उद्धार करूँगा, यह मैं चिल्ला कर कहता। पर किस तरह, यह नहीं जानता था। और इसीलिए मैं अब तक समय-समय पर चिल्ल-पुकार करने के सिवा और कुछ कार्य इस विषय में कर भी नहीं सका। मैंने समझा यही यथेष्ट है। इसे करने में धन भी मिला और यश भी। रोज़गार-धन्धे को ढूँढ़ने की दिक़्क़त भी न उठानी पड़ी, यही चिल्ल-पुकार करना मेरा व्यवसाय हो गया। मैं अब जिह्वा और लेखनी दोनों से यही चिल्लाया करता। निदान, देश पर मरने वालों की फ़ेहरिस्त में मेरा नाम दूर ही से चमकने लगा। मेरी स्त्री हँसती थी। वह मुझे जीवित रखना चाहती थी, मारना नहीं। मैं कह दिया करता—"यह तो कहने की बातें हैं। मरने का ऐसा यहाँ कौन सा प्रसङ्ग है?" बस, यही उसके हास्य का विषय था। शिशु-कुमार की बात कैसे भूली जाय? हँसने में चार चाँद तो वही लगाता था।

पर मैंने जो कुछ समझा वह मेरी जड़ता थी। देश का अस्तित्व एक कठोर और वास्तविक अस्तित्व था। उसकी परिस्थिति ऐसी थी कि करोड़ों नर-नारी मनुष्यत्व से गिर कर पशु की तरह जी रहे थे। संसार की महाजातियाँ जहाँ परस्पर स्पर्द्धा करती हुई जीवन-पथ पर बढ़ रही थीं, वहाँ मेरा देश और मेरे देश के करोड़ों नर-नारी केवल यह समस्या हल करने में असमर्थ थे कि कैसे अपने खण्डित, तिरस्कृत, अवशिष्ट, जीवन को ख़तम किया जाय? देश-भक्त मित्र मेरे पास धीरे-धीरे जुटने लगे। उन्होंने देश की सुलगती हुई आग का मुझे दिग्दर्शन कराया। मैंने भूख और अपमान की आग में जलते और छटपटाते देश के स्त्री-बच्चों को देखा। वहाँ करोड़ों विधवाएँ, करोड़ों मँगते, करोड़ों भूखे-नङ्गे, करोड़ों कुपढ़ मूर्ख और करोड़ों ही अकाल में काल-ग्रास बनते हुए अबोध शिशु थे। मेरा कलेजा थर्रा गया। मैं सोचने लगा, जो बात केवल मैं कहानी-कल्पना समझता था, वह सच्ची है, और यदि मुझमें सच्ची ग़ैरत थी, तो मुझे सचमुच मरना ही चाहिए था। मैं भयभीत हो गया। मैं कह चुका था कि मैं मरने से पीछे हटने वाला नहीं हूँ। अब क्या करता? मैं बिलकुल पशु तो नहीं, बेग़ैरत भी नहीं, परन्तु मैं मरने को तैयार नहीं था। फिर भी मैं ज़बान लौटा न सका, मेरी वाग्धारा और लेखनी वैसी ही चलती रही। वास्तविकता का ज्यों-

ज्यों दिग्दर्शन मुझे हुआ, वह उतनी ही अधिक मर्म-स्पर्शिनी हो गई। बोलना और लिखना मैंने सीखा था, फिर वह मेरा स्वाभाविक गुण था। शीघ्र ही मेरी सोलहों कलाएँ पूर्ण हो गईं। मैं देश में सितारे की भाँति चमकने लगा। मेरा सम्मान चरमकोटि पर पहुँचा, पर मेरा हास्य, मेरा सुख सदा के लिए गया। मैं सदा ही शङ्कित, थकित और चिन्तित रहता, मानों मृत्यु परछाईं की तरह सदा मेरे पीछे रहती थी। मैं उससे बहुत ही डरता था। अब मृत्यु ही मेरे हृदय और मस्तिष्क के विचारने का विषय रह गई, परन्तु क्या कहूँ ? इस दुःख में भी एक वस्तु थी, जो प्राणों से चिपट रही थी—वही स्त्री और शिशुकुमार।

राजा साहब को मैंने कभी नहीं समझा, पर उनसे कभी डरा भी नहीं। उनके नेत्र अद्भुत थे, और देखने का ढङ्ग और भी अद्भुत—छोटा सा मुख, बड़ी-बड़ी मूँछें, उस पर भारी सा हम्माम, और काले चश्मे से ढकी हुई वे अद्भुत रहस्यमयी आँखें। सभी कहते थे, राजा साहब से हम डरते हैं, पर मैं कभी न डरा। वे आते ही सदैव पहले मुझे प्यार करते, तब पिता जी से बात करते थे। वे पिता जी के अनन्य भक्त थे, पिता जी के दीक्षा लेने के पूर्व से ही। उनके संन्यस्त होने के बाद तो वे उनके शिष्य ही हो गए थे। बहुधा उनमें एकान्त में बातचीत होती, घण्टों और कभी-कभी दिनों तक। वे खाना-पीना-सोना भी भूल जाते।

तब भी मैं उनके विषय को न समझ सका था और अब, इतना बड़ा होने पर भी, नहीं समझ सका। एक ही बात प्रकट थी कि वे बड़े भारी देशभक्त हैं। मैं भी देशभक्त था। बस, यही हमारा उनका नाता था। वह धीरे-धीरे बढ़ा। पहले वह जैसे मुझे प्यार करते थे, वैसे अब वे शिशुकुमार को प्यार करने लगे। यह बात मुझे और मेरी पत्नी को बहुत भाती थी। पर वे कभी-कभी शिशुकुमार को छाती से लगा कर मेरी ओर ऐसी मर्म-भेदिनी दृष्टि से ताकते थे कि मैं घबरा जाता था। तभी तो मैं कहता था कि वह दृष्टि बड़ी अद्भुत थी। उस समय मैं उसे समझा नहीं, समझा तब, जब मैं स्त्री, पुत्र, प्राण, जीवन, सब कुछ उन्हें देकर महापथ पर महायात्रा के लिए अग्रसर हुआ। आज वे आँखें १५ वर्ष से प्रति क्षण मुझे घूर रही हैं। उनसे एक क्षण भी बचना मेरे लिए अशक्य है।

राजा साहब ने मुझसे जिस लिए परिचय बढ़ाया था, उसका मुख्य कारण धीरे-धीरे उन्होंने खोला। मैं ज्यों-ज्यों सुनता था, भयभीत होता, पर यत्न से भय को छिपा कर उत्साह प्रदर्शित करता था। फिर भी मालूम होता, मानों वे सब समझ रहे हैं। वे थोड़ी-थोड़ी बातें करते और चले जाते। एक दिन हठात् मुझे बुला कर उन्होंने कहा—"क्या तुम अपने पिता के सच्चे पुत्र और साहसी देश-सेवक हो?" मैं ना कहता किस तरह? मैंने

सिंह-गर्जन की तरह हुङ्कार भरी। राजा साहब ने मुख्य उद्देश्य बता दिया। मैं सन्न हो गया। वे मृत्यु को जेब में लिए फिरते थे, अपने लिए भी और मेरे लिए भी। उस महावीर के सम्मुख कायर बनना मेरे लिए शक्य न रहा। मैं हाँ करता गया। स्वामी जी के सम्मुख भी हाँ की। स्त्री ने हाहाकार किया, परन्तु एक अपूर्व गर्व-भावना मन में आ गई थी। मैं पीछे न हटा। मैंने अपना जीवन राजा साहब के हाथों सौंप दिया। फिर तो मैं इस तरह उड़ा, जैसे आँधी से उड़ाया हुआ और डाल से टूटा हुआ सूखा पत्ता।

३

मैंने अपनी आत्मा से अधिक उस पर विश्वास किया था। उसके पिता मेरे गुरु और परम श्रद्धास्पद थे। वे अपने जीवन के प्रारम्भ से ही देश के एक अप्रतिभ सेवक रहे, उनकी सन्तान कैसे देश और जाति का मित्र न होगी? मैं इसके विपरीत सोच ही न सका। इस प्रसङ्ग से प्रथम कई वर्ष से मैं उससे परिचित था। पत्र-व्यवहार और मुलाक़ात सभी में वह एक उत्कट देशभक्त, वीर युवक ध्वनित होता रहा। जब मैंने उससे अपना गम्भीर अभिप्राय निवेदन किया, तो वह एकटक मेरे मुख को देखता रह गया। उसके होंठ और कण्ठ सूख गए। बड़ी चेष्टा करके उसने कहा—श्रीमान, आपने राज्य और रियासत को धूल के

समान त्याग दिया ; राज्य, भोग और ऐश्वर्य से दूर हो गए ; दिन-रात देश और जाति की ध्वनि आपके रोम-रोम से निकलती है। अब आप क्या सचमुच प्राणों की बाज़ी भी लगा देने को तैयार हैं ?

मैं तो तैयार ही था। बिना एक क्षण रुके मैंने कहा—"हाँ, हाँ, अब प्राणों को छोड़ कर मेरे पास और रह ही क्या गया है ? यह भी जिसकी धरोहर हैं, उसे जितनी जल्दी सौंप दिए जायँ उतना ही अच्छा। इस शरीर को इन प्राणों का भार अब सह्य नहीं है। यह ग़ुलामी, यह काला जीवन, हमारा—हम समस्त भारतवासियों का—कैसा है, समझते हो ? जैसे, एक भेड़ के बच्चे का उस बाड़े के भीतर, जिसके फाटक पर शिकारी कुत्तों का पहरा लग रहा है। इस पहरे के भीतर राजा रहा तो क्या, प्रजा रही तो क्या, जीवित रहा तो क्या और मर गया तो क्या ? बोलो तुम क्या कहते हो ?"

उसकी आँखों से झर-झर आँसू टपक गए। उसने गद्गद कण्ठ से कहा—श्रीमान, मैं भी कैसा अपदार्थ हूँ ! मैं अपनी स्त्री-बच्चे को त्यागने में कष्ट पा रहा हूँ, परन्तु आप—ओह ! आपके सम्मुख मैं लज्जित होने का कारण न पैदा होने दूँगा। मैं सोचूँगा, कल इसी समय मैं आपको वचन दूँगा। सिर्फ़ कल भर आप और रहने दीजिए।

"कुछ हर्ज नहीं, पर समझ लेना, मृत्यु की पद-पद पर आशङ्का है। भय और विपत्ति के बादलों में जाना होगा—ज़रा भी विचलित हुए, ज़रा भी स्त्री-बच्चों के मुख का स्मरण आया, ज़रा भी मन में भीरुता आई, देश तो अतल पाताल में गया ही समझना, साथ ही पचासों वीर मित्रों की जान जायगी। सब कुछ मिट्टी में मिल जायगा।"

"श्रीमान, क्या आप नहीं जानते, मैं किसका पुत्र हूँ?"

"जानता हूँ, पर तुम्हें स्वयं भी कुछ होना चाहिए।"

"तब श्रीमान का मुझ पर विश्वास नहीं?"

"विश्वास? विश्वास अपनी आत्मा से भी अधिक है। मैं अपने विश्वास से बेफ़िक्र हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि तुम्हें स्वयं अपने ऊपर विश्वास हो।"

वह अधोमुख होकर सोचने लगा। मैंने मन में वेदना अनुभव की। लाखों युवकों में मैंने इसे चुना है, क्या मैं धोखा खाऊँगा?

मैंने उसे बिदा किया, वह चला गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर मिलते ही उसने कहा—"श्रीमान, मैं तैयार हूँ।" उसने अपना हाथ बढ़ा दिया। मैं घोर सन्दिग्ध अवस्था में था। क्षण भर मैं उसे देखता रहा। क्या यह सच है? महान विचार-धाराओं के कार्य-रूप में परिणत होने का समय क्या आ गया? ओह

प्यारे भारतवर्ष !×××ठहरो। मैंने खड़ा होकर उसका स्वागत किया। मैं कुछ बोल न सका। मेरे नेत्रों में आँसू थे। कुछ ठहर कर मैंने कहा—"प्यारे युवक, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। प्रत्येक खतरे को अपने सिर पर लूँगा। तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करूँगा, परन्तु फिर भी तुम्हें प्रतिज्ञा करनी है कि यदि कुअवसर उपस्थित हो, तो अपने प्राणों को, शरीर को अपदार्थ समझोगे। अभी तुम्हारे सम्मुख जो भयानक गम्भीर भेद प्रकट होंगे, उन्हें तुम्हारे हृदय से बाहर तब तक न आना चाहिए, जब तक कि तुम्हारे हृदय को चीर कर टुकड़े-टुकड़े न कर दिया जाय। तुम सदा यह समझ कर अपने जीवन को बलिदान करने के लिए तैयार रहना कि इससे सैकड़ों सच्चे वीरों के जीवन की रक्षा होगी। जो अब नहीं तो फिर कभी न कभी देश का उद्धार करेंगे।" युवक के नेत्रों में स्थिरता थी। उसने सहज-शान्त स्वर में कहा—श्रीमान, हर तरह परीक्षा कर लें।

मैंने कहा—तुम्हारे पिता की भक्ति मेरे हृदय में धरोहर है। मैंने उनसे आदेश ले लिया है। तुम्हारी यही परीक्षा काफी है। तुम केवल मुख से एक बार कह दो कि तुम भेदों को प्राणों से बढ़ कर समझोगे ?

"समझूँगा।"

"विपत्ति आने पर तुम स्थिर रहोगे ?"

"उसी तरह, जैसे पत्थर की मूर्ति रहती है।"

"यदि तुम्हें मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़े ?"

"तो मैं उसे अपने पुत्र की तरह गले लगाऊँगा ?"

"यदि तुम्हें भेद लेने के लिए असह्य वेदनाएँ दी जायँ ?"

"मैं धर्म से शपथपूर्वक कहता हूँ कि मृत्यु-पर्यन्त उन्हें सहन करूँगा।"

"यदि प्रलोभन दिए जायँ ?"

"वे मुझे विचलित नहीं कर सकेंगे।"

युवक के होठ काँपे। नेत्रों की पुतरियाँ चलायमान हुईं। मैंने अधीर होकर कहा—प्रलोभन ? क्या प्रलोभन तुम्हें चलायमान न कर सकेंगे ?

"नहीं श्रीमान, अभी मैं बड़े से बड़े प्रलोभन को त्याग आया हूँ।"

मेरा सन्तोष न हुआ। मैं उठ कर टहलने लगा। मैं सोचने लगा—वेदना, यातना और मृत्यु, ये एक ओर हैं, परन्तु प्रलोभन ? ओह, इसका अन्त नहीं। यह युवक वेदना सहेगा, मृत्यु का आलिङ्गन भी करेगा। मैं विश्वास करता हूँ, पर प्रलोभन ? ओह, विश्वास नहीं होता। शायद उसे स्वयं भी विश्वास नहीं।

युवक ने मेरे पास आकर कहा—श्रीमान क्या विश्वास नहीं करते ?

"मेरे प्यारे मित्र, मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रहा हूँ। मुझे विश्वास करना चाहिए।" मैंने युवक को छाती से लगा लिया। मैंने कहा—"लो, अब हम-तुम एक हुए, एक महान कार्य की पूर्ति के लिए। यदि परमेश्वर को अभीष्ट हुआ तो हम मर कर भी अमर होंगे। हम दोनों करोड़ों मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली हैं। हम पृथ्वी की महा विजयिनी शक्ति के सम्मुख चल रहे हैं—मरेंगे या विजयी होंगे।" आवेग में ही ये शब्द मुख से निकल गए। उसके बाद मेरा बाहुपाश कब शिथिल हुआ, कब वह युवक खिसक कर मेरे पैरों में आ गिरा, मुझे स्मरण नहीं।

४

जगत में असाधारण होना भी कैसा दुर्भाग्य है! पृथ्वी की असंख्य आँखें उसी के छिद्रान्वेषण में लगी रहती हैं। वह यदि जगत के लिए मरता है, तो जगत की दृष्टि में यह उसका साधारण सा कर्तव्य है, किन्तु यदि वह एक क्षण भी अपने लिए जीता है, तो मानों पाप का पर्वत उसके सिर पर लद जाता है। क्या यह दुर्भाग्य नहीं? अरे भाई, सभी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, नर-नारी, अपने ही लिए तो जीते हैं? अपने क्षण भर के सुख और जीवन के लिए अनगिनत प्राणिय को नष्ट कर डालते हैं। कोई भी तो उनसे कुछ नहीं कहता। फिर हम पर ही यह अग्नि-वर्षा क्यों? मैंने सब कुछ त्यागा। जीवन के

कष्ट और आपत्तियों को क्या कहूँ, अब तो सबको पार कर गया। अब उनकी स्मृति से क्यों मन को सन्ताप दूँ? परन्तु शरीर और हृदय, ये जब तक जीवन-तत्त्व से संयुक्त हैं, तब तक तो प्रकृत संन्यस्त में सदैव कमी रहेगी ही। यह मेरा अब तक का अनुभव है।

मैं संन्यस्त हुआ सही, पर पिता का हृदय कहाँ रक्खा जाय? पुत्र तो आत्मा और रक्त-मांस में से भाग देकर बना था, उसका मोह कहाँ तक त्यागूँ? कहाँ तक निर्मोही बनूँ? उसकी माँ तो उसे जन्म देकर ही मर गई थी। उसने अल्प जीवन में जो कुछ दिया, अब भी वह अतीत के सब सुखों के ऊपर नृत्य कर रहा है। उस मधुर स्मृति की एक अमिट रेखा यह पुत्र था। इसे मैंने हाथों-हाथ पाला और उसे—जैसा कि मैंने चाहा था—संसार के सामने, क्रान्ति के नव्य कुमार के रूप में पेश किया। लक्षावधि देशवासी उस पर नाज़ करते थे और मैं अपनी सफलता पर मुग्ध होता था—उसी तरह, जैसे किसान अपने कड़े परिश्रम से सींची हुई खेती को पकी देख कर मुग्ध होता है।

फिर भी मैं राजा साहब के वचन को न टाल सका। उनके भयानक साहस से मैं अवगत था। उनकी प्रत्येक गति-विधि से मैं परिचित था। पुत्र के अनिष्ट का भय पद-पद पर स्पष्ट था। किन्तु मुझे सहमत होना पड़ा। इसके

अनेक कारण थे। देश के नाम पर बलिदान होने की मैं स्वयं उच्चस्वर से पुकार कर चुका था, पुत्र को भी यही शिक्षा दी थी। अब उसे उस मार्ग से रोक कर क्या राजा साहब और अन्य साथियों की दृष्टि में अपदार्थ बनता? लड़के में भी साहस और उत्साह था। पर उसके मर्मस्थल की दुर्बलता मैं जानता था। विलासिता उसे गिरावेगी, मुझे भय था। उसने वस्तुस्थिति को समझा ही नहीं। जब उसने स्वयं नवजात पुत्र और पत्नी को त्याग कर उस भयानक यात्रा और कठोर कर्तव्य-पथ पर राजा साहब का अनुकरण करने का अपना इरादा प्रकट किया, तब मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा—"पुत्र, राजा साहब का मैं चिर-सहयोगी हूँ, परन्तु केवल मुख से। तुम तो इतने उत्साह से यह बात कह रहे हो; कदाचित तुम अवश्यम्भावी विपद से अवगत नहीं। कार्य की गुरुता और कठिनाई तुम यथावत् नहीं समझ रहे हो। यह तुमसे होने वाला कार्य नहीं, महा-दुस्साध्य है। यह लोह-पुरुषों का महकमा है। इसके लिए वे पुरुष चाहिए; जो लोहे का शरीर, लोहे की आत्मा और लोहे का हृदय रखते हों। मेरे बेटे, मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम वह नहीं हो। घर में बैठो, बैठे-बैठे जो बने करो। देश और जाति के लिए यही यथेष्ट है।"

उसने एक न सुनी। वह मूर्ख मुझ पिता के सम्मुख भी कायर बनना न चाहता था। उसने अस्वाभाविक

करारे स्वर में हठ प्रदर्शन किया और मुझे सहमति देनी पड़ी।

वही हुआ, जिसका भय था। पृथ्वी के उस छोर पर वे विपत्ति के अग्नि-समुद्र में बड़े कौशल और सावधानी से घुस रहे थे। अरे, जब अग्नि-समुद्र में घुसना था, फिर कौशल क्या? वह फँस गया, राजा साहब बाल-बाल बच कर निकल भागे। मैं यहीं बैठा उनकी गति-विधि का निरीक्षण कर रहा था। महासमर की प्रचण्ड ज्वालाएँ यूरोप को भस्म कर रही थीं। उसकी चिनगारी कब मेरी कुटी को भस्म कर देगी, यह कहना शक्य न था। यूरोप के दैनिक पत्रों को देखने के अतिरिक्त मैं और कुछ कर ही न सकता था। मन ही न लगता था। उसके उस पत्र पर सरकारी गुप्त विभाग के सर्वोच्च अधिकारी की एक टिप्पणी थी। उससे मैं समझ गया, पुत्र की मृत्यु का मूल्य बहुत अधिक है। वह मूल्य मेरे पास था तो, पर मैंने बहुत चेष्टा की कि प्राण देकर उस मूल्य को न दूँ। पर हाय! अवसर ही ऐसा आ गया, मेरे प्राणों का कुछ भी मूल्य इस सौदे में न रहा। उसने सब कुछ कह दिया था। उसके वक्तव्य की सत्यता के प्रमाण मात्र मेरे पास थे। मैं कई दिन उसके बच्चे को छाती से लगा कर तड़पता फिरा। अपने संन्यास-वेश की असत्यता मुझ पर खुल गई। ओह, मुझे वह काला काम करना पड़ा। मैंने पुत्र के प्राणों की पिता की तरह रक्षा की।

पर उसके बदले हुआ क्या ? देश भर में तलाशियों और गिरफ्तारियों की धूम मच गई। होनहार, अटपटे वीरों ने हँसते-हँसते फाँसी पाई। कुछ कालेपानी जाकर वहीं घुल गए। कुछ युग व्यतीत कर लौट आए। देशोद्धार का सुयोग अतल पाताल में चला गया। मेरे दुष्कर्म का यह भेद एक राजा साहब को ही मालूम था, पर वे भारत में आ न सकते थे। एक पत्र उन्होंने भेजा था। ओह, जाने दो, जब उसे भस्म कर दिया है, तब चर्चा क्यों ? जिस बात के भूलने में सुख है, उसे हठपूर्वक स्मरण क्यों किया जाय ?

५

महाजातियों का यह सङ्घर्ष कैसा सुन्दर है ! यदि मैं भी इन्हीं जातियों में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त करता तो क्या आज चूहे की तरह इधर से उधर प्राण बचाता फिरता ? महाशक्ति की सेनाओं की कमान इन्हीं हाथों में होती, पर जीवन में कभी वह क्षण आवेगा भी ? आवे या न आवे, मैं अन्त तक न थकूँगा। भोजन और सोना कई दिन से नसीब नहीं हुए। नाविक के वेश में, मछलियों की सड़ी गन्ध में छिपे-छिपे सिर भिन्ना गया, पर विपत्ति तो अभी सिर पर है। वह दूर पर रणपोतों के तोपों का गर्जन सुनाई पड़ रहा है। वह सर्चलाइट का श्वेत सर्प समुद्र पर लहरा रहा है। किन्तु प्रभात होवे

ही तो किनारे लगेंगे ? किनारे पर शत्रु हैं या मित्र, कौन जाने ? मित्र हुए तो इस बार जान बची, पर यदि शत्र हुए तो आज ही प्राणान्त है । जीवन भी कैसी चीज़ है ? इस समय राजमहल याद आ रहे हैं । महारानी मानों करुण नेत्रों से झाँक रही हैं, परन्तु क्या इस महायुद्ध में मैं अपने वंशधरों की भाँति अपने देश के लिए जूझने में पीछे रहूँ ? जूझने के ढङ्ग तो यथावसर निराले होते ही हैं, परन्तु जिन विदेशियों को मैं मित्र बना कर अपना और अपने देश का ऐसा गम्भीर दायित्व सौंप रहा हूँ, वह क्या सच्चे रहेंगे ? एक विदेशी से प्राण छुड़ाने को दूसरे का आश्रय लेना सुन्दर नीति तो नहीं, परन्तु दूसरी गति भी नहीं थी । फिर, अब लौटने का उपाय भी तो नहीं है । एक बार देश में आग फैल जाय, अमन, आराम और शान्ति की इच्छा नष्ट हो जाय, देश जूझ मरने की हौंस मन में उत्पन्न करे, फिर तो आज़ादी स्वयं ही आ जायगी । यह महासमर तो महाराज्यों के भाग्य का निबटारा करेगा, महाजातियों के भाग्य का निबटारा तो कहीं अन्यत्र ही होगा । सुदूर पूर्व में शान्त समुद्र की लहरें रक्त से लाल होंगी, एशिया की प्रसुप्त आत्मा जाग्रत होकर हुङ्कार भरेगी, तब यूरोप का शान्त दर्प ध्वंस होगा । उसी दिन के लिए तो मेरा आयोजन है । ओह ! अभी मुझे बहुत काम है, पहली यात्रा में ही यह विघ्न हुआ ।

अभी मुझे बारम्बार चीन, जापान, रूस, अमेरिका और न जाने कहाँ-कहाँ जाना होगा। महाविध्वंस क्या योंही हो जायगा ? परन्तु वह युवक तो फँस गया। बुरा हुआ। बचना सम्भव ही न था। महासाहस उसमें न था। चिन्तनीय बात तो यह है कि सब कुछ उसे ज्ञात है। आवश्यक काग़ज़ भी बहुत से वहीं रह गए हैं। तब वह क्या प्राणों के लोभ से देश को चौपट करेगा ? विश्वास-घाती होगा ? मरने में क्षण भर का ही तो दुःख है। वह अवश्य उसे सह लेगा, भेद न खोलेगा। फिर भी सचेत रहना आवश्यक है। मुझे अब नया कार्यक्रम बनाना उचित है। अपने मार्ग की गति भी बदलनी उचित है। ये नाविक विश्वसनीय हैं, परन्तु मैं कुछ और ही करूँगा।

ओह देश ! मेरे प्यारे स्वदेश !! यह तन, मन, धन, सब तुझ पर न्यौछावर है। तेरी एक-एक रज-कण में मेरे जैसे लाख शरीर बनते-बिगड़ते हैं। फिर इस शरीर का क्या मोह ? मेरे प्यारे स्वदेश ! मैंने सब कुछ तुझे दिया है। अब प्राण भी दूँगा। इस धरोहर को पास रखने योग्य अब मेरे पास ठौर भी नहीं रह गया है। आह, क्या कभी मैं तुझे देख सकूँगा ? वह नील श्यामल रूप ! अरे, बचपन की क्या-क्या बातें याद आ रही हैं ? परन्तु नहीं, मुझे इस समय कायर नहीं बनना चाहिए। मैं प्रण करता हूँ, देश की भूमि पर तभी पैर रक्खूँगा, जब उसे पूर्ण स्वाधीन कर लूँगा।

६

प्राण बचे तो, पर बेमोल बिक गए थे। उन पर मेरा क़ाबू न था। अब स्वेच्छानुसार न कुछ कर सकता था, न सोच सकता था। उन बहुमूल्य गोपनीय बातों के बदले मुझे गुप्त विभाग में उच्च पद मिला था। मेरे प्राण जैसे मेरे लिए क़ीमती थे, वैसे ही उस गुप्त विभाग के लिए भी थे। मेरा जीवन रहस्यमय था। मेरे हृदय में कुछ और भी है, तथा मेरी ओट में कुछ रहस्य-भेद होगा, इस तत्व ने मेरे प्राणों को इस अधम शरीर में सुरक्षित रक्खा और इस कापुरुष ने यही ग़नीमत समझा। शिशु की फैली हुई बाँह और हँसता मुख मैं कुछ काल तक देखता रहा, उस जेल-यन्त्रणा और मृत्यु की कोठरी में भी और इस अफ़सरी की सुखद किन्तु भीषण कुर्सी पर भी। परन्तु पाप के पथ पर तो पाप की हाट लगी ही रहती है। फिर लिली की बात क्यों छिपाऊँ? न जाने क्यों वह मुझ अभागे पर मुग्ध हुई। उसका पति मेरा उच्च ऑफ़िसर था। हम लोगों ने विष द्वारा उस कण्टक को दूर कर दिया। अब लिली थी और मैं था। परन्तु मृतात्मा हमारे बीच में जीवित की अपेक्षा अधिक भयानक रूप में थी। एक बार फाँसी के फन्दे को हम दोनों ने अपने संयुक्त गदनों के इर्द-गिर्द देखा। हमने सोचा यहाँ से भाग चलें। तार दिया, जहाज़ का टिकट भी ले लिया, पर भाग न सके। जहाज़ पर ख़ूनी

आसामी कह कर पकड़े गए। लिली का रोना देखने योग्य था। पर वह छूटती कैसे, हड्डियों तक घुस गई थी। हताश, दोनों मृत्यु का आलिङ्गन करने को तैयार हो गए। परन्तु ये कठिन प्राण तो इस शरीर में जम कर बैठे थे। उन्हीं शक्तियों ने प्राण बचा लिए। मैं लिली के मृतक पति के पद पर, उसी मृतक के नाम से बैठ गया। लिली अब वास्तव में मेरी पत्नी थी। अब मानों मैं मर गया हूँ। मैं नहीं हूँ, जिसे मैंने लिली के लिए मारा, मानों वह मैं हूँ। शिशु का वह हास्य और पत्नी के वे नेत्र अब भी कभी-कभी स्वप्न की तरह स्मरण आते हैं, पर पूर्वजन्म की इन बातों में अब क्या रक्खा है? लिली से मैं अब भी प्यार की आशा करता था। छिः! कैसी विडम्बना है! पति के हत्यारे को प्यार करना क्या साधारण है? फिर यदि प्रेम की सुखद गोद में हत्या जैसा पाप घुस जाय, तब वह जिन्हें सुखद प्रतीत हो वे निश्चय ही राक्षस होंगे। हृदय की उन वेदनाओं को क्या कहा जाय, जिन्होंने शरीर को नष्ट कर दिया है? और वह अभागा भी कैसा दुखी जीव है, जो उसके साथ रहने को विवश किया गया है, जो उससे घृणा करती है? हमारे रस की प्रत्येक बूँद में विष है, पर उसे रस कह कर पीना हम दोनों के ही लिए अनिवार्य है। हाय रे प्रारब्ध!

७

मैं अभागिनी अबला स्त्री क्या करती ? मरना सुखकर था, परन्तु शिशुकुमार के मन्द हास्य ने उसे दुरूह कर दिया। क्या कोई भी माँ अपने फूल-से बच्चे को इस तरह हँसते छोड़ कर मर सकती है ? अब तो मैं पहले माँ थी, पीछे पत्नी। इसीलिए गोद के शिशु को धरती में पटक कर परोक्ष पति के नाम पर मरना मेरे लिए सम्भव ही न रहा। मैं सुख-दुःख के बीच झूलती रही। मैं मृत्यु और जीवन की ड्योढ़ियों में पड़ी ठोकर खाती रही। मुझ दुखिया के कष्ट, मूक मनोवेदना का अनुमान तो करिए ? मेरी बात पूछने वाला कौन था ? मेरे मन को सहारा किसका था ? मैं पति के सहवास-काल की प्रत्येक घटना, प्रत्येक बात, अपनी आँखों से प्रति क्षण देखती, सोते समय और जागते समय भी। मैं कभी हँसती और कभी रो देती। कभी सोते-सोते या बैठे ही बैठे चमक उठती। मुझे ऐसा प्रतीत होता था मानों वे आ गए। उन्होंने अभी-अभी शिशुकुमार को आवाज़ दी है। कण्ठ-स्वर को मैं प्रत्यक्ष सुन पाती। मैं द्वार की ओर दौड़ती, परन्तु तत्काल ही समझ जाती, ओह ! कुछ नहीं, यह सब मनोविकार था। मैं नहीं कह सकती कि सोने के समय जागती थी या जागने के समय सोती थी। प्रायः मैं जड़वत् बैठी रहती। उस समय मैं किसी की कोई बात ही न सुन पाती थी। मैं उस समय देखती थी—

वे उन्हें पकड़ कर फाँसी पर चढ़ा रहे हैं, उनके शरीर में तलवारें घुसेड़ रहे हैं। शरीर रक्त से भर रहा है। मैं एकाएक चीत्कार कर उठती, और फिर धरती पर धड़ाम से गिर कर बेहोश हो जाती थी।

शिशुकुमार को देख कर ही मैं सचेत रह सकती थी। मुझे तब वास्तव में हँसना ही पड़ता था। वह उनके सिखाए ढङ्ग पर मेरे गले में बाहें डाल कर जब ज़रा-ज़रा तोतली वाणी से सितार की झनकार के स्वर में कहता—"माता जी, रूठो मत" तब मैं मानों किसी गूढ़ जगत से एकाएक भूतल पर आती। होठों पर मुस्कान न आती, पर नेत्रों में आँसू आ जाते थे। उन्हें शिशुकुमार से छिपाने के लिए मैं उसे ज़ोर से छाती से लगा लेती थी।

उस दिन स्वामी जी एकाएक मेरे सम्मुख आ खड़े हुए। उनके होंठ काँप रहे थे और पैर लड़खड़ा रहे थे। उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वे कुछ कहना चाहते थे, पर बोली न निकलती थी। मैं घबरा कर उठ खड़ी हुई। मैंने कभी उन्हें इतना विचलित न देखा था। मैंने कहा—"बात क्या है पिता जी?" "वह जीवित है, वह आ रहा है"—वे अधिक न बोल सके। आँसुओं की धारा उनके नेत्रों से बहने लगी। उन्होंने मुँह फेर कर अच्छी तरह रुदन किया।

मेरे शरीर में रक्त की गति रुक गई। मेरी हड्डी-हड्डी काँपने लगी। मैंने खड़े रहने की बड़ी चेष्टा की, पर न रह

सकी। मेरा सिर घूम रहा था, छाती फटी पड़ती थी। मैं बैठ गई या गिर गई, स्मरण नहीं।

स्वामी जी ने घूम कर कहा—"बेटी, आज ७वीं तारीख है। १० तारीख के प्रातःकाल जहाज बम्बई के बन्दर पर लगेगा। हमें आज ही चलना होगा। तुम अपना आवश्यक सामान ले लो। अभी समय है। गाड़ी साढ़े नौ पर खुलती है।" वे इतना कह कर चले गए।

मार्ग में मैं जीवित थी या मृत, नहीं कह सकती। बम्बई कब पहुँची, स्मरण नहीं। रेल दौड़ रही थी, मैं मानों आकाश में घुसी जा रही थी, मानों मैं अभी सूर्य-मण्डल को भेदन करूँगी। डेक पर सहस्रावधि नर-नारी खड़े थे। एक भीमकाय जहाज उन्मत्त समुद्र की जल-राशि के हृदय को विदीर्ण करता हुआ भयानक दानव की तरह निकट ही आ रहा था। मेरी संज्ञा प्रायः लुप्त थी। डेक पर लगते ही नर-नारियों का समुद्र किनारे उतरने लगा। मैं सम्पूर्ण चेष्टा से उनके बीच कुछ खोज सकने भर की संज्ञा सञ्चित कर रही थी। सब कुछ एक रङ्गीन विन्दु के समान दीख पड़ता था। नहीं कह सकती, कब तक हम लोग खड़े रहे। हठात् स्वामी जी ने कहा—"इस जहाज में तो वह नहीं है। क्या कारण हुआ?" उनके प्रदीप्त नेत्र दूर तक घूम कर मेरे मुख पर आ लगे। बम्बई आने पर यही शब्द मैं ठीक-ठीक सुन सकी। मैं समझी, यह सब मृग-मरीचिका थी। वे

नहीं आए, वे नहीं आवेंगे। मैंने अनन्त तक फैली हुई जल-राशि पर दृष्टि दौड़ाई। हठात् मेरे मन में एक भाव उदय हुआ। मैंने हठात् कहा—"पिता जी, तब मैं वहाँ जाऊँगी।" मेरे ये शब्द मेरे ही कानों में तोप के भीषण गर्जन की तरह प्रतीत हुए।

स्वामी जी ने मेरे मुख की तरफ़ देखा। उन्होंने आश्वासन देकर कहा—"अवश्य कुछ कारण हुआ है। पत्र या तार शीघ्र मिलेगा। तब भविष्य के कर्त्तव्य पर विचार करेंगे। अभी घर चलो।" मैंने एक पग भी न हिलाया। बहुत तर्क हुआ। विजय मेरी हुई। सोते हुए शिशुकुमार को छोटी बहू की गोद में सौंप, उसे बिना ही अच्छी तरह देखे, उसे बिना ही चूमे, मैं अनन्त समुद्र के पार, उस अज्ञात प्रदेश में, उस पति को ढूँढ़ लाने चली। मेरा माता होना धिक्कार हुआ। हाय रे! अधम नारी-हृदय!!

८

इस कृष्णकाय और साधारण पुरुष ने क्या जादू कर दिया? ओह, मैंने कैसा घोर दुष्कर्म किया? अब इन रक्त-रञ्जित हाथों को कौन प्यार करेगा? यही व्यक्ति? और वह कितना भयानक, कितना घृणास्पद है! क्यों यह पापिष्ट हमारे बीच में आया? क्यों इसने हमारे प्रशान्त प्रेम में आग लगाई? मैं इससे घृणा करती हूँ। पति की मृतक आँखें कैसी चमक रही हैं! वे सब कुछ जानती हैं।

उन्होंने अपना सभी प्रेम और विश्वास मुझे दिया, इसीलिए कि मैं अपनी वासना के लिए उनका प्राण हरण करूँ ? परन्तु अब तो मैं इसके साथ रहने के लिए बाध्य हूँ, छुटकारा पा नहीं सकती। यह वह विदेशी कृष्णकाय हत्यारा नहीं, मेरा वही पति है। इसमें क्या राजनैतिक महत्व है, इसे तो वह गुप्त-विभाग जाने, जिसने इस भाग्यहीन को इतना बड़ा पद दिया है। पर मैं कैसे यह मान लूँ ? क्या आँखें फोड़ लूँ, हृदय को चीर डालूँ ?

सुनती थी कि यह विवाहिता है। इसके पुत्र, पत्नी है। आज उसे देख भी लिया। वह इसे ले जाने के लिए यहाँ आई है, पर यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? अब यदि यह अपना पूर्व नाम भी स्मरण करेगा, तो उसकी सजा मौत है। और कैसी भयानक बात है ! मैं उससे मिली, कितनी सीधी-सादी, दुखिया स्त्री है ? वह अपने हठ पर है। किन्तु उसे मालूम नहीं कि प्रबल और समर्थ हाथ उसके विपरीत है। अपराध का इतना समर्थन कहाँ किसी ने देखा होगा ? ओफ़ !

६

कल मैंने उन्हें देखा। वही थे, किन्तु कितना परिवर्तन हो गया है ! फिर भी मेरी आँखें क्या उन्हें भूल सकती थीं ? उन्होंने भी देखा। मैं समझ गई, उनकी हड्डी तक काँप गई है, पर क्यों ? वे दौड़ कर क्यों नहीं मेरे पास

आए ? इतना डरे क्यों ? क्या पहचाना नहीं ? ओह, हे ईश्वर, तब मेरे लिए ठौर कहाँ है ? इतना करके भी मैं वञ्चित रही ? आशा के कच्चे तार के सहारे ये प्राण इस अधम शरीर को यहाँ तक ले आए। आकर जो पाना था पाया भी, पर क्या मैं पाकर भी न पा सकूँगी ? ओह, पति के नाम पर मर मिटने वालियों से भी मेरा साहस बढ़ कर है। मैं आगे बढ़ी। दिन छिप गया था। गहरा कोहरा इस विदेश की महानगरी में अद्भुत भयानक मालूम होता था। प्रकाश-स्तम्भों की धुँधली रोशनी में मैं उनके पीछे बढ़ी चली गई और साहसपूर्वक हाथ पकड़ लिया। उन्होंने रुक कर देखा, भद्र विदेशी भाषा में उन्होंने कहा—"देवी, आप कौन हैं ? क्यों आपने मुझे रोका है ? आपका क्या काम है, कहिए ?" अरे ! वही तो कण्ठ-स्वर था। सदा तो इसे मैंने सुना है, पर यह अपरिचित शब्द-जाल कैसा ? मैं रो उठी, मैं गिर गई, चरणों पर नहीं, धरती पर। उन्होंने मुझे उठाया, तसल्ली दी। मैंने देखा—वही, वही, वही हैं। मैंने गले में बाँहें डाल दीं। जितना रो सकती थी, रोई। मैंने कहा—"दासी पर निष्ठु-रता क्यों ? यदि यह अपराधिनी है, तो शिशुकुमार को क्यों भूल गए ? देखो प्यारे, वह सूख कर काला हो गया है। वह सदैव तुम्हारा ही नाम रटा करता है। तुमने स्वयं उसे अपना नाम रटाया था।" वे भी रो उठे। अन्त में

उन्होंने कहा—"प्रिये, धीरज धरो। मेरे कलेजे की आग देखो। मैं जीवन्मृत हूँ; मैं कब का मर चुका हूँ। सरकारी खातों में मेरी मृत्यु-तिथि दर्ज है। पर जो वास्तव में मर गया है, उस नाम में मैं जीवित हूँ। उसका नाम मेरा नाम है, उसका पद मेरा पद है, उसकी स्त्री मेरी स्त्री है। ओह! वह मुझे घृणा करती है, और मैं उसे। हम दोनों हत्या के अभियुक्त हैं। फाँसी की रस्सी हम दोनों की गर्दनों के चारों ओर पड़ी है। ज्योंही हमने यह भेद खोला, अपना पूर्व नाम जाना कि उसका फन्दा कस दिया गया। उसी दिन यह अधम देह प्राणों से रहित हो जायगी।"

मैंने यह भेद समझा ही नहीं। मैं अवाक् रह गई। पर जो कुछ सुनना था, सभी सुना। मैंने कहा—"मैं अधिकारियों से कहूँगी, क़ानून से लड़ूँगी।" उन्होंने कहा—"सभी तरह मेरे प्राण जायँगे। मेरे प्राण लेकर तुम क्या करोगी? क्या इसीलिए यहाँ आई हो?"

मैं क्या करती? मैं मूर्च्छित हो गई। उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"मेरे पास बहुत धन हो गया है। चाहे जितना लें जाओ। शिशुकुमार को पढ़ाओ और अपने सधवा होने की बात भूल जाओ। मैं यदि मर सकता तो तभी मरता, जब वीर की तरह मरने का संयोग आया था। अब इस तरह जीने के बाद, ज्यों-ज्यों पाप और कायरता शरीर में घुसती है, त्यों-त्यों मैं मरने से भय खाता हूँ। प्रिये, तुमने

बहुत सहन किया है, और भी सहन करो। मुझे तब तक जीने दो, जब तक जी सकता हूँ। ग्लानि और अनुताप को मैं सहन कर गया हूँ। इससे अब ज्यादा कष्ट और कौन होगा ?"

मैंने कहा—"जिस मूल्य में तुम जीवित रहो, वह मैं दूँगी। मैं भयभीत नहीं, शोकाकुल भी नहीं। दस वर्ष पूर्व मैं भीरु स्त्री थी, पर तुम्हारे वियोग और जीवन की कठिनाइयों ने मुझे पुरुष-सा साहसी बना दिया है। अब मैं उन तमाम अतीत स्मृतियों को भूल जाऊँगी, जिनके सहारे जी रही थी। जब तुम जीवन्मृत हो, तो मैं भी जीवन्मृत हुई। वह सब कुछ पिछले जन्म की बातें हुईं। वह गङ्गा का उपकूल, वह जीवन के उल्लासपूर्ण दिवस, उस दिन वन-बीथिका में तुम्हारा खो जाना, वह शिशुकुमार के जन्म से प्रथम का प्यार, उसके जन्म-दिन का वह दुर्लभ उपहार—आह ! वह सब मेरे पूर्वजन्म की बातें हैं। मैं उस जन्म में पुत्रवती, सौभाग्य-सिन्दूर की अधिकारिणी, प्रेम और दुलार की पुतली थी। आज उन्हें भूलना भी कठिन और याद रखना भी दुर्लभ ! पर भूलूँ तो क्या और याद रक्खूँ तो क्या ? जिसे पा नहीं सकती, उसकी कल्पना करने से ही क्या लाभ ?"

मेरे इस असाधारण साहस का यही फल हुआ। मैंने उन्हें विदा किया, इस जन्म के लिए। मेरा उनका शरीर-

सम्बन्ध विच्छेद हुआ। उन्होंने मुझे बहुत-कुछ देना चाहा, पर मैंने स्वीकार न किया। मैंने कहा—"तुमने अपने सुख के दिनों में जो शिशुकुमार मुझे दिया है, वही मेरे लिए बहुत है। मैं उसीके सहारे अवशिष्ट आयु काट दूँगी। तुम—तुम—जाओ और पाप, छल, पाखण्ड, विश्वासघात में जीवन बिताओ। मेरे जीवन्मृत स्वामी, तुम्हें धिक्कार है! मैं तुम्हारा धन छू नहीं सकती, मैं पसीना बेच कर अपना और शिशुकुमार का पेट भरूँगी।" मैं चली आई।

प्रबुद्ध

प्रबुद्ध

वृद्ध महाराज शुद्धोदन आज विशेष प्रसन्न-वदन दिखाई पड़ रहे थे। वे प्रासाद के भीतरी अलिन्द में एक स्फटिक मणि की पीठ पर बैठे थे। उन्होंने सम्मुख कुछ दूर पर खड़े हुए प्रतिहार को पुकार कर कहा—अरे! देख तो युवराज सिद्धार्थ अभी मृगया से लौटे या नहीं?

प्रतिहार ने आगे बढ़ और धरती पर बल्लम टेक कर कहा—परम परमेश्वर, परम वैष्णव, महाभट्टारक पादीय महाराजाधिराज की जय हो! भट्टारक पादीय महाकुमार अभी-अभी मृगया से लौटे हैं, और वे वायु-मण्डप में विश्राम कर रहे हैं।

"अच्छा-अच्छा, महानायक प्रबुद्धसेन और महामात्य विजयादित्य को तो यहाँ भेज दो।"

प्रतिहार ने नत-मस्तक हो प्रस्थान किया। महाराज ने चँवरवाहिनी को सङ्केत से निकट बुला कर कहा—जा, राजमहिषी से कह दे कि आज ही तो भाण्ड-वितरण का दिन है, सभी राजकुमारियाँ आगई होंगी। वे स्वयं उनकी शुश्रूषा करें। ऐसा न हो कि किसी को खिन्न होने का अवसर मिले।

महानायक प्रबुद्धसेन ने स्थिर भाव से सम्मुख खड़े होकर और खड्ग को उष्णीष से लगा कर पुकारा—परम परमेश्वर, परम वैष्णव × × ×

महाराज ने बीच ही में हँस कर कहा—महानायक, आज सभी सेना सज्जित रहनी चाहिए। ज्योंही कुमार सिद्धार्थ अन्तिम भाण्ड वितरण करें, त्योंही जयघोष और सैनिक अभिवादन होना चाहिए। आज ही कुमार सिद्धार्थ सेना को पताका प्रदान करेंगे।

महानायक ने नत-मस्तक होकर कहा—महाराज की जय! समस्त सेना सज्जित होकर भट्टारक पादीय महाराजकुमार के अन्तिम भाण्ड-वितरण की प्रतीक्षा कर रही है।

महामात्य विजयादित्य ने नत-जानु होकर महाराज का अभिवादन किया। महाराज ने प्रफुल्ल-वदन होकर कहा—महामात्य! अब तो समय समुपस्थित है, फिर विलम्ब क्यों? सभी राजकुमारियाँ आ तो गईं? तुम कुमार सिद्धार्थ को तृतीय अलिन्द में ले आओ, वहीं भाण्ड-वितरण किया जायगा। हाँ, तुम कुमार के सर्वथा निकट रहना और उनकी गति-विधि का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना। नेत्रों का तारतम्य और ओष्ठप्रस्फुर, गूढ़ मनोगत भावों को प्रदर्शित कर देगा। ज्योंही तुम देखो, कुमार किसी कन्या के प्रति आकर्षित हुए हैं, त्योंही तुम शङ्ख-ध्वनि करना, और पुरोहित

को शुभ-सम्वाद देकर मेरे निकट भेज देना। इतना कह कर महाराज हँस दिए।

वृद्ध महामात्य भी हँसे। उन्होंने कहा—जो आज्ञा, परन्तु कोली राजकन्या यशोधरा अभी तक नहीं आई हैं। वह×××

बीच में ही एक दण्डधर ने उपस्थित हो, उच्च स्वर से जयनाद करके कहा—कोली राजकन्या भट्टारक पादीय महाराजकुमार से भाण्ड-प्रसाद पाने की अभिलाषा से द्वार पर उपस्थित हैं।

महाराज ने हठात् खड़े होकर कहा—जाओ-जाओ, राजमहिषी से कहो कि वे राजनन्दिनी का यथेष्ट स्वागत करें।

महामात्य ने नत-मस्तक होकर कहा—तो अब मैं जाता हूँ।

"शुभं ते पन्थानः स्युः!"

महाराज फिर अलिन्द में अकेले रह गए। उस समय न जाने कितनी सुखद स्मृतियाँ उनके हृत्पिण्ड को विकसित कर रही थीं।

२

वायु-मण्डप की एक स्वच्छ शिला पर राजकुमार सिद्धार्थ विषण्ण-वदन बैठे थे। उनके शरीर पर केवल एक उत्तरीय और अधोवस्त्र था। वे मानों किसी गहन

चिन्ता में मग्न थे। वसन्त की मृदुल वायु उनके काक-पक्ष को लहरा रही थी। कुसुम-गुच्छ झूम-झूम कर सौरभ बिखेर रहे थे। तप्त स्वर्ण के समान उनकी शरीर-कान्ति उन महीन वस्त्रों से बिखरी पड़ती थी। उनका मुख, चिन्तन की गम्भीर भावना के कारण प्रस्फुटित कैशोरावस्था की उत्फुल्लता से रहित हो गया था; पर उसका अप्रतिम सौन्दर्य कुछ और ही रङ्ग ला रहा था। उनका सुडौल गर्दन, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और केहरी जैसी ठवन असाधारण थी। सुकोमल हृद्गत भाव, सुकुमार देह और पुंसत्व का उद्गम एक अलौकिक मिश्रण बना रहा था। वे शिला-खण्ड पर बैठे दोनों हाथों में जानु देकर सम्मुख पुष्करिणी में खिले एक कमल-पुष्प पर बारम्बार मत्त भ्रमर का प्रणय-आक्रमण देख रहे थे। परन्तु उस विनोद का कुछ प्रमाद उनके हृदय पर था—यह नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि भ्रमर पर थी अवश्य, पर वे किसी गूढ़ जगत में विचर रहे थे। कभी-कभी उनके होंठ फड़क उठते और कोई अस्फुट शब्द-ध्वनि उनमें से निकल जाती थी। वे इतने मग्न थे कि कब कौन उनके निकट आ खड़ा हुआ है, यह उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ।

पीछे से स्पर्श पाकर उन्होंने चौंक कर देखा और सम्भ्रान्त भाव से खड़े होकर आगत वृद्ध पुरुष को प्रणाम करते हुए बोले—आर्य की उपस्थिति का मुझे कुछ भी भान नहीं हुआ।

वृद्ध महापुरुष ने हँस कर कहा—होगा कैसे, तुम स्वयं उपस्थित रहो तब न ? क्षण भर भी एकान्त हुआ, और तुम गम्भीर चिन्तन में मग्न हुए। कुमार ! क्या प्रतापी शाक्य-वंश के एकमात्र उत्तराधिकारी के लिए यह उचित है ?

"आर्य, क्षमा कीजिए। मैं भविष्य में इसका ध्यान रक्खूँगा ; परन्तु ××× आज मेरी परीक्षा हो गई न ?"

"आशातीत, तुम्हारे जैसे अन्यमनस्क शिष्य से मुझे इतनी आशा न थी। सभी कहते थे कि कुमार लक्ष्य-वेध न कर सकेंगे। तुम अभ्यास ही कब करते थे ? परन्तु आज तुम्हारा हस्त-लाघव देख कर मैं गद्‌गद हो गया। कुमार ! मैं धन्य हुआ। तुम शाक्य वंश के दीपक होगे। मैं भविष्य-वाणी करता हूँ—तुम अप्रतिभ योद्धा ××× " वृद्ध पुरुष ने कुमार के कन्धे पर स्नेह से हाथ रख कर उपरोक्त वचन कहे।

कुमार ने बीच ही में बात काट कर कहा—आर्य ! पुरजन फिर तो मेरी परीक्षा की हठ न करेंगे ?

"कभी नहीं, वे पूर्ण सन्तुष्ट हैं, सर्वत्र ही तुम्हारी अप्रतिभ शस्त्रकला की चर्चा हो रही है। पर तुम क्या विशेष थके हुए हो ?"

"तनिक भी नहीं।"

"तब यह एकान्त-सेवन क्यों ? यह गम्भीर चिन्तन क्यों ? और यह विषण्ण मुख-मुद्रा क्यों ?"

"आर्य अत्यन्त स्नेह के कारण ऐसा विचार करते हैं। परन्तु×××अरे! महामात्य इधर ही आ रहे हैं—आर्य! हमें आगे बढ़ कर अमात्यवर का अभिवादन करना चाहिए।"

दोनों व्यक्ति वायु-मण्डप के द्वार तक बढ़ आए। महामात्य ने हँस कर कहा—महाभट्टारक पादीय महाराज कुमार जी, जय हो! आप आज आखेट में विजय प्राप्त कर आए हैं। इस सुसमाचार से अन्तःपुर में विशेष उल्लास हो रहा है; महिषी की इच्छा है कि आज सभी राजकुमारियाँ समुपस्थित हैं, कुमार उन्हें अपने हाथों से रत्न-भाण्ड प्रदान कर प्रतिष्ठित करें।

कुमार ने सलज्ज भाव से कहा—माता की जैसी आज्ञा। तीनों व्यक्ति धीरे-धीरे प्रासाद की ओर चल दिए।

३

उषा की आलोकित रश्मि-रेखा की तरह सबके अन्त में राजनन्दिनी यशोधरा ने कक्ष में प्रवेश किया, मानों उन्हें देखते ही कुमार सिद्धार्थ का चिर-निद्रित यौवन जाग्रत हो उठा। वह धीरे-धीरे सौरभ, आलोक और शोभा बिखेरती हुई व्यासपीठ तक पहुँच कर कुमार के सम्मुख खड़ी हो गईं; वह सिमट रही थीं और झुक रही थीं, न जाने अविकसित यौवन के भार से अथवा लज्जा के भार से। वह सम्मुख खड़ी होकर भूमि पर दृष्टि गड़ाए पद-नख

से धरती पर बिछे स्फटिक-प्रस्तर पर रेखा खींचने का व्यर्थ प्रयास कर रही थीं।

कुमार चित्र-लिखित से देखते रह गए। वे जाग्रत भी प्रसुप्त से थे। कुमार के निकट खड़े अमात्यवर ने कहा—राजनन्दिनी को भाण्ड प्रदान करो।

कुमार ने घबरा कर इधर-उधर देखा और अस्त-व्यस्त स्वर में कहा—शुभ्रे! तुमने अति विलम्ब किया, भाण्ड तो सभी वितरण हो चुके।

राजनन्दिनी क्षण भर उसी तरह खड़ी रहीं, फिर उन्होंने ऋजु प्रणाम करके लौटने का उपक्रम किया।

कुमार असंयत होकर आगे बढ़े और कण्ठ से मणिमाला निकाल कर उन्होंने कुमारी के गले में डाल दी। कुमारी ने दृष्टि उठा कर कुमार के प्रदीप्त स्वर्ण-मुख की ओर देखा। वे पत्ते की तरह काँपने लगीं और उनका मुख प्रस्वेद से भींग गया। कुमार जड़वत खड़े थे। हठात् महामात्य ने शङ्ख-ध्वनि की। क्षण भर में भुशुण्डिकाएँ गर्ज उठीं, उसके बाद ही विविध वाद्य-ध्वनि से राजप्रासाद गुञ्जायमान हो गया।

कुमार ने विचलित होकर कहा—आर्य! यह क्या हुआ? पर उन्होंने देखा, कक्ष में वे हैं और पुष्प-भार से झुकी हुई लतिका के समान राजनन्दिनी यशोधरा हैं। उन्होंने साहस करके कहा—राजनन्दिनी क्या प्रतिदान की अभिलाषा रखती हैं?

कुमारी के अधरोष्ठ में एक क्षीण हास्य-रेखा और कपोलों पर लाली आई और गई। उन्होंने नत-जानु होकर महाराजकुमार को अभिवादन किया और उसके बाद वहाँ से चली गईं।

४

क्या हम प्रेम की व्याख्या करें? उस ेम की, जहाँ शरीर, सम्पत्ति का माध्यम नहीं है; जहाँ केवल प्राणों में प्राणों का लय है; जो नेत्र-पटल पर नहीं तौला जाता; केवल आत्मा जिसमें विभोर होती है; जो जीवन से मृत्यु तक और मृत्यु से परे भी वैसा ही पारिजात-कुसुम की तरह अक्षय विकसित रहता है; वासना का जहाँ सम्पर्क नहीं; भोग और तृप्ति का जहाँ प्रसङ्ग नहीं; अभिलाषा और अरुचि दोनों ही जहाँ नहीं; जहाँ सुख नहीं, आनन्द है; जहाँ कुछ भी प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं—सब कुछ प्राप्त है। इस पृथ्वीतल पर दाम्पत्य जीवन में यह प्रेम किस महाभाग ने प्राप्त किया?

गौतम ने यशोधरा का अञ्चल खींच कर कहा—गोपा प्रिये! अब बस करो, चङ्गेरी तो भर चुकी। अब इन पुष्पों को लताओं में इसी तरह विकसित छोड़ दो। ये कल तक तो खिले रह सकेंगे? देखो, जिन डालियों के पुष्प तुम तोड़ चुकी हो, वे कितनी अशोभनीय हो गई हैं?

"होने दो, आर्यपुत्र ! ये कल फिर फूलों से लद जायँगी। यह तो प्रकृति का स्वभाव है ? आप व्यर्थ ही इतना विवाद करते हैं।"

"व्यर्थ ? नहीं प्रिये ! इन कुसुम-लतिकाओं के प्रति तुम्हारा आचरण नितान्त निष्ठुर है। अभी प्रातःकाल तो तुम इन्हें अपने हाथों सींच रही थीं—क्या इसीलिए ?"

"और नहीं तो क्या ? आर्यपुत्र क्या मुझे ऐसी ही निःस्वार्थ समझे बैठे हैं ? मैंने सींचा है तो फूल भी चुनूँगी। यह तो जगत की गति ही है। और यह निष्ठुर आचरण क्या इतना ही ? अभी तो मैं सूची से गूँथ कर माला बनाऊँगी। ये यूथिका, चम्पा और कुन्द क्या योंही अस्त-व्यस्त चङ्गेरी में पड़े रहेंगे, जैसे आर्यपुत्र के विचार पड़े रहते हैं ?"

"उलाहना मत दो प्रिये ! तुम्हें तो उदार होना ही चाहिए। तुम राजनन्दिनी हो, हाय-हाय ! क्या तुम इन कोमल पुष्पों को सुई से विद्ध भी करोगी ?"

"आर्यपुत्र ! देखते रहें, मैं एक-एक को विद्ध करूँगी। मैं राजनन्दिनी हूँ, पालन करना, कर ग्रहण करना और दण्ड-भय से शासन और सुव्यवस्था बनाए रखना मेरा कर्त्तव्य है। जल-सिञ्चन करके मैंने पालन किया, पुष्पचय करके कर ग्रहण कर रही हूँ, और अब सूत्री-शस्त्र के बल से सुव्यवस्थित करके माला बनाऊँगी। फिर आर्यपुत्र के

वक्षस्थल पर वह सुशोभित होगी। और मेरे परिश्रम का वेतन मुझे प्राप्त होगा।"—इतना कह कर गोपा हँस पड़ी।

महाराजकुमार सिद्धार्थ ने उसे दृढ़ता से पकड़ कर कहा—पर मैं विद्रोह करूँगा, अब मैं तुम्हें अधिक यह कर शोषण नहीं करने दूँगा, प्रिये! चाहो तो मुझे दण्ड दो।

"अच्छी बात है! मैं तुम्हें बाँध कर डाले देती हूँ।" इतना कह कर गोपा ने अपने दृढ़ भुजा-पाश में कुमार को बाँध लिया।

महाराजकुमार के अन्तस्तल में सदैव जाग्रत प्रबुद्ध-सत्ता उस मद से क्षण-भर को मूर्च्छित हो गई। उन्होंने पत्नी-श्रेष्ठ को प्रगाढ़ आलिङ्गन करके चुम्बन किया।

गोपा ने हँस कर कहा—आर्यपुत्र! स्मरण रक्खें कि यह अनुग्रह वेतन में न काटा जाय, पुरस्कार मात्र समझा जाय!

राजकुमार हँस पड़े। उन्होंने कहा—गोपा प्रिये! उस दिन तो तुम इतनी चपला न थीं, जिस दिन भाण्ड-वितरण × × ×

"आर्यपुत्र के पास इसी बात का क्या प्रमाण है कि मैं वही बालिका हूँ?"

"वही तो हो प्रिये? यह नेत्र और यह अधरोष्ठ, इन्हें क्या मैं भूल जाऊँगा? ओह, इन्हीं ने तो मुझे ठगा।"—राजकुमार मानों एक गम्भीर चिन्तन में पड़ गए।

गोपा ने व्याजकोप से कहा—आर्यपुत्र को भ्रम हुआ है। वे थीं राजनन्दिनी यशोधरा—कोल-कुमारी, और मैं हूँ भगवती गोपा—शाक्य-सिंहासन की युवराज्ञी।

"अच्छा-अच्छा प्रिये! अब चलो, प्रासाद में चलें, सय अस्त हो रहा है; तुम्हें शीत का भय है।"

"जो आज्ञा आर्यपुत्र!"

५

"अर्द्ध-रात्रि तो कब की व्यतीत हो गई। त्रिशिरा नक्षत्र आकाश के मध्य भाग में आ गया। आर्यपुत्र क्या अभी शयन न करेंगे?"

"ओह प्रिये! तुम अभी तक जाग रही हो?"

"सारा संसार मोहमयी निद्रा में शयन कर रहा है।"

"हाय! यह कैसे दुःख का विषय है?"

"कैसा घोर अन्धकार है!"

"पर मेरा हृदय प्रकाशित है।"

"मेरे प्रभु! इतने निकट होने पर भी मैं उस प्रकाश की एक किरण भी नहीं देखती।"

"मैं उसे संसार के प्राणिमात्र को दिखाने की बात ही सोच रहा हूँ।"

"इस स्तब्ध अन्धनिशा में?"

"अन्धनिशा तो मानव-हृदय में ओत-प्रोत है। तुम समझती हो, जब सूर्योदय होगा तब छिन्न-भिन्न हो जायगी?"

"मैं मूर्ख स्त्री और क्या सोचूँगी ?"

"नहीं गोपा, आत्म-प्रतारणा की आवश्यकता नहीं ; पर इस बात को तो सोचो। मानव-आत्मा न जाने कब से उसी प्रकार सो रही है, जैसे इस समय संसार, और वह उसी प्रकार अन्धकार में व्याप्त है, जैसे इस समय पृथ्वी। यह निद्रा और अन्धकार कुछ समय में दूर हो जायगा, उषा का उदय होगा, जगत सुन्दर हो जायगा, प्रकृति भाँति-भाँति के रङ्ग का शृङ्गार करेगी, आलोक से आकाश और भूलोक शोभायमान होगा, आह ! कैसी सुन्दर बात है, परन्तु मानव-हृदय का अन्धकार और सुषुप्ति तब भी दूर न होगी। यह अक्षय अन्धकार, यह चिर-मोह-निन्द्रा मनुष्य पर शाप है। मनुष्य-जाति के इस दुर्भाग्य पर तुम्हें करुणा नहीं आती ?"

"और इस अनन्त मानव-समुदाय में अकेले आर्यपुत्र जाग्रत हैं ?"

"प्रिये ! व्यंग्य क्यों करती हो ?"

"अच्छा, आर्यपुत्र ! इस अन्धकार में जाग्रत होकर किस सौभाग्य की आशा करते हैं ? इस अन्धकार में तो जाग्रत पुरुष की अपेक्षा सुख से सोए पुरुष ही अधिक भाग्यशाली हैं ?"

कुमार ने उत्तेजित होकर गोपा का हाथ पकड़ लिया, कहा—किन्तु, यदि उनका कभी प्रभात न हो तो ? उसे निद्रा का कभी अवसान न हो तो ?

गोपा विचलित हुई, निरुत्तर हुई। वह पति के निकट बैठ कर कुछ सोचने लगी।

सिद्धार्थ ने कहा—प्रिये! यदि मैं अपने हृदय के प्रकाश की रेखा से इस अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर सकूँ? जाग्रत होकर मानव-समाज सुन्दर आलोक देखे तो, गोपा! क्या हमारा जीवन धन्य न होगा?

"अवश्य।"—गोपा ने दृढ़ता से कुमार का हाथ पकड़ कर कहा।

"तब इसके लिए हृदय विदीर्ण करना पड़ेगा।"

"विदीर्ण?"

सिद्धार्थ कुछ न बोले। दोनों महाप्राण आन्दोलित हो रहे थे। "हृदय विदीर्ण करना होगा!" गोपा का माथा घूमने लगा। वह ज़ोर से कुमार का आलिङ्गन करके रोने लगी। वह बहुत कुछ कहना चाहती थी, पर कुछ कह न सकती थी; वह बहुत दिन से एक आशङ्का को मन से दूर करने की चेष्टा कर रही थी, पर कर नहीं सकती थी। कुमार के भाव को वह कुछ समझ न सकी, पर 'हृदय विदीर्ण' होने की भावना वह सह न सकी—वह पति के वक्षस्थल पर गिर कर फूट-फूट कर रो उठी।

एक बार महाराज कुमार की अन्तर्हित प्रबुद्ध सत्ता फिर मूर्च्छित हुई। उन्होंने गोपा को गाढ़ आलिङ्गन करके बारम्बार उसका चुम्बन किया।

धीरे-धीरे दोनों प्राणी शयन-कक्ष की ओर चले गए।

६

"देखो प्रिये, यह क्या हो रहा है ?"—कुमार ने मुर्झा कर डाली पर झुके हुए एक पुष्प की ओर सङ्केत करके कहा।

गोपा ने देखा और वह आश्चर्य-चकित हो कुमार की तरफ़ देख कर बोली—आर्यपुत्र का अभिप्राय क्या है ?

"अभी कुछ देर पूर्व सूर्य की किरणों ने इस पुष्प को छुआ, यह खिल पड़ा। सूर्य तो अस्त हो रहा है, और यह मुर्झा रहा है ; अब यह सूख कर झड़ जाएगा।" यह कह कर उन्होंने पत्नी की ओर देखा।

गोपा कुमार की मुख-मुद्रा को एकटक देख रही थी। कुमार ने फिर कहा—"गोपा प्रिये ! मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है।" उनकी दृष्टि गोपा के मुख से हट कर एक बार दोलायमान हुई और फिर वह दूर क्षितिज पर डूबते हुए सूर्य पर अटक गई। मुख पर कुछ हास्य की रेखा आई, पर वह गई नहीं। वे जड़वत् वैसे ही बैठे रहे।

गोपा घबरा गई। उसने कहा—आर्यपुत्र अब और क्या विचार रहे हैं ?

कुमार ने चौंक कर कहा—ओह, कुछ भी तो नहीं, प्रिये ! आज मैं नगर में गया था। वहाँ मैंने राजपथ पर एक पुरुष देखा, वह एक लाठी के सहारे बड़े कष्ट से चल

रहा था, उसके नेत्र इतने विभ्रम थे कि उनकी अपेक्षा नेत्र न होते तो हानि न थी ; दाँत सभी गिर गए थे, उससे उसका मुख तो विकृत हो ही गया था, वाणी भी अस्पष्ट हो गई थी, उसकी खाल काली होकर लटक गई थी, और हड्डियाँ चमक रही थीं, उसका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। वह बड़े चाव से मेरी ओर देख रहा था, मैं उसके निकट गया। उसने काँपते-काँपते ऊपर हाथ उठा कर मेरा अभिवादन किया, और कहा—"कुमार! एक दिन मैं तुमसे भी अधिक सुन्दर था और एक दिन तुम भी ऐसे ही हो जाओगे।" मैंने सोच कर देखा, प्रिये! उसका कथन सत्य हो सकता है।

गोपा कुमार की ओर देखती रही ; उसके होंठ काँप कर रह गए।

कुमार बोले—कुछ आगे चलने पर एक और हृदय-द्रावक दृश्य देखा। एक पुरुष को लोग उठा कर लिए जा रहे थे। मैंने उन्हें रोक कर पूछा—यह क्या है? उन्होंने कहा—यह मर गया है। मैंने उसे देखा, वह न हिल सकता था, न बोल सकता था—उसमें प्राण नहीं था। वे उसे भस्म करने को ले जा रहे थे। एक ने कहा—अन्त में सभी को ऐसा होना पड़ेगा।

राजकुमार हठात् उठ खड़े हुए। उन्होंने शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखा। उनके हृदय को मानों कोई ज़ोर

से मन्थन कर रहा था। उन्होंने कातर कण्ठ से गुनगुना कर कहा—यह कैसी भयानक दशा है! राजा और रङ्क यहाँ विवश हैं! क्या इस दुःख से छूटने का कोई उपाय ही नहीं है? फिर ये सुख, राजप्रासाद, धन और अधिकार विडम्बना मात्र हैं? जब ये चिरस्थायी ही नहीं, जब उस अवश्यम्भावी अवस्था के प्रतिकार में ये समर्थ ही नहीं, तब? उन्होंने ज़ोर से पुकार कर कहा—गोपा प्रिये! तब?

गोपा कुमार की मुख-मुद्रा और भावभङ्गी से डर गई। उसने त्रस्त स्वर में कहा—आर्यपुत्र, क्या सोच रहे हैं?

"प्रिये! कोई गूढ़ वस्तु कहीं छिपी है?"

"इस राजसम्पदा से, अधिकार-सत्ता से भी अधिक?"

"हाँ।"

"इस यौवन, सौन्दर्य और आनन्द से भी अधिक?"

"हाँ।"

"आपकी इस चिर-किङ्करी से भी अधिक?"

"ओह, गोपा प्रिये, ठहरो! वह गूढ़ वस्तु हमें प्राप्त करनी चाहिए।"

"और वह है कहाँ?"

"मैं उसे ढूढ़ूँगा, वह मनुष्य मात्र के दुःख को दूर करने की तालिका होगी।" उनके होंठ फड़कने लगे, और नेत्र उन्मीलित हो गए।

गोपा एक बार कम्पित हुई। उसने कुमार का हाथ पकड़ कर उठाया और कहा—आर्यपुत्र ! नगर-निरीक्षण तो आपने किया, अब मेरी सारिका का निरीक्षण भी कीजिए। देखिए, यह आपकी तरह मेरा नाम लेकर पुकारना सीख गई है। आज आपको उस मयूर के जोड़े को स्वयं भोजन कराना होगा। इसके सिवा आज आप अन्धकार-निरीक्षण न कर सकेंगे ? अभी से शयन-कक्ष में रहना होगा।

बहुत चेष्टा करने पर उसके होठों पर हास्य आया। कुमार ने अन्यमनस्क होकर कहा—अच्छा प्रिये ! तुम्हारी ही बात रहे।

७

"पुत्र ? हे भगवान ! यह नया बन्धन और उत्पन्न हुआ ! गोपा क्या कम थी ? वह आनन्द और हास्य का मधुर अमृत एक क्षण भी मुझे नीरस नहीं रहने देना चाहता। परन्तु जो स्वभाव से नीरस है, वह सरस होगा कैसे ? गोपा के प्रेम-पाश को तोड़ने में मैं कितना बल लगा चुका, वह टूटा नहीं। अब यह पुत्र ? अरे ! कैसा सुन्दर है यह। केवल एक बार देखने के लिए मैंने समस्त संयम नष्ट कर दिया। वह स्वर्ण की दीप्त कान्ति धारण करने वाला अर्द्धनिमीलित नेत्र, छोटा सा मुख, मानों मेरी ही एक सजीव छाया—मुझसे पृथक, परन्तु मेरे प्राणों की एक कोर ! मैंने प्राण दिया और गोपा ने शरीर। गोपा के समान

ही सुन्दर और प्रिय, कोमल और रुचिर। अरे! वह मेरा पुत्र है। हम दोनों के प्राण और शरीर जिस महायोग में एक राशि पर आए, वह इन्द्रियातीत आनन्द का आदान-प्रदान जिस क्षण हुआ, उसकी ऐसी स्थायी स्मृति? गोपा! जादूगरनी, यह क्या किया? उस एक क्षण के करोड़वें हिस्से की आनन्द-लहर को तूने ऐसा स्थिर बना दिया? मैंने उसे गोद में उठाया। गोपा का वह मूक अनुरोध और वह अप्रतिभ उल्लास! गोपा के नेत्रों में मानों उसके प्राण ही आ गए थे। उसने उसे मेरी गोद में दिया और मेरे चरण चुम्बन किए—यह इतनी विनय क्यों? तब गोपा प्रिया अब मातृभाव में आप्लावित हुई? अच्छा ठहरो, उसके नेत्र कैसे थे? गोपा ने कहा, ठीक मेरे जैसे? अरे! कहीं मैंने ही तो जन्म नहीं ले लिया? नहीं तो उस अबोध बालक पर मेरी इतनी ममता क्यों होती? मेरा उसका परिचय कब का है?"

राजकुमार को कोमल शय्या पर नींद न आई। चुपचाप उठ कर उपवन में टहलने लगे। उनके विचारों में फिर उत्तेजना उत्पन्न हो गई। वे पुत्र की बात को सोचते-सोचते चिन्ता में मग्न हो गए—ऐं! यह कैसा सुख, यह कैसा सौभाग्य, जिसमें निद्रा का भी नाश हो गया? सारा संसार तो सो रहा है। यही तो चिन्तनीय विषय है, जो सुख है वह भी दुःख का मूल है। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं,

जो मानव-जीवन की इस कठिन व्याधि का उपाय जानता हो। राजकुमार एक जामुन के वृक्ष के नीचे बैठ कर जीवन, मरण और उत्पत्ति के विचार में लीन हो गए।

उस अभेद्य अन्धकार में मानों उनके दिव्य चक्षु खुल गए। उनसे उन्होंने देखा—संसार का सुख दुखदाई, मृत्यु अनिवार्य और भवितव्य है, पर यह जान कर भी लोग अज्ञान के अन्धकार में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं, और सत्य की खोज नहीं करते! कुमार का हृदय अगाध दया से भर गया।

हठात राजकुमार ने देखा, सम्मुख वृक्ष के नीचे एक गम्भीर महापुरुष खड़े हैं। कुमार ने पूछा—तुम कौन हो? और कहाँ से आते हो?

"मैं श्रमण हूँ, बुढ़ापे के दुःखों और रोगों की पीड़ा तथा मृत्यु के भय से मैं घर-द्वार का परित्याग करके निकला हूँ; मैं मुक्ति का अन्वेषक हूँ; क्योंकि संसार के सब पदार्थ नाश हो जाते हैं, केवल सत्य ही सदा साथ रहता है। प्रत्येक वस्तु बदलती रहती है, कोई पदार्थ स्थिर नहीं है। मैं अक्षय आनन्द को चाहता हूँ। मैंने संसार त्याग दिया है। मैं भिक्षा माँग कर खा लेता हूँ। मैंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, मैं अपने उद्देश्य में तत्पर हूँ।"

"मैं भी इन्द्रियों के विषयों की निस्सारता को अच्छी तरह समझ गया हूँ। मुझे भोग से घृणा हो गई है। मेरा

जीवन मुझे शून्य दीखता है। क्या तुम कह सकते हो कि इस अशान्त जगत में कहीं शान्ति मिल सकती है ?"

"जहाँ उष्णता है वहाँ शीतलता भी है। पर महान सुख के लिए महान परिश्रम भी करना होगा। पाप-विद्ध व्याकुल आत्मा को उस कल्याण-मार्ग का शोध करना चाहिए, जो निर्वाण की ओर जाय। निर्वाण-सरोवर में स्नान करने से सारे पाप धुल जाएँगे।"

"आह ! तुम्हारा सुसमाचार शुभ है। मेरे पिता और पत्नी मुझे राजकार्य में लगाना चाहते हैं। वे घराने की कीर्ति के इच्छुक हैं, वे कहते हैं कि यह समय धर्मजीवी बनने के उपयुक्त नहीं।"

"याद रक्खो कुमार ! धर्म-पालन के लिए, सत्य की खोज के लिए, परमानन्द की प्राप्ति के लिए, कोई समय अनुपयुक्त नहीं।"

"महाश्रमण ! धर्मान्वेषण का समय आ गया, मैं उन सब बन्धनों को तोड़े डालता हूँ, जो धर्म-प्राप्ति में बाधक हैं।"

राजकुमार ने एक बार उच्च अट्टालिका की ओर देखा। श्रमण ने कहा—कुमार सिद्धार्थ ! तुम्हारी जय हो ! तुम महान हो ! तुम तथागत हो ! देखो, सत्य को पराकाष्ठा तक पहुँचाना। जिस प्रकार सूर्य सब ऋतुओं में स्थिर होकर अपने नियमित मार्ग पर चलता है, उसी प्रकार तुम भी

सत्य-पथ पर अटल रहना। तुम 'बुद्ध' होगे, तुम लक्षावधि मनुष्यों की बुद्धि को शुद्ध करोगे, तुम जगत के पथ-प्रदर्शक होगे।

सिद्धार्थ ने देखा, महापुरुष यह कहते-कहते अन्तर्धान हो गए।

वे उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—मैंने सत्य का साक्षात् कर लिया। मैं अब बन्धनों को तोड़ूँगा। मैं बुद्ध-पद प्राप्त करूँगा।

वे धीरे-धीरे गम्भीर चिन्तन करते हुए अलिन्द की ओर लौटे।

८

माता और पुत्र सुख-नींद में बेसुध सो रहे थे। गोपा के अरुण अधर पर हास्य की रेखा फैल रही थी, और उनके बीच कुन्द-कली के समान दाँत चमक रहे थे। 'वह किस सुख-स्वप्न को देख रही है?'—कुमार क्लान्त-भाव से खड़े-खड़े यही सोचने लगे। गोपा का एक हाथ शिशु के वक्ष पर था। उस सुगन्धित कक्ष में शिशु का छोटा, किन्तु अति प्रतिभावान मुख दीप्त हो रहा था। सिद्धार्थ का हृदय भर आया। उन्होंने प्रण किया—मैं सङ्कल्प पर स्थिर रहूँगा। फिर भी उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। वे बोले—और यह शोकावेग कितना दुर्धर्ष है? इस धारा के वेग को रोकना कितना कठिन है? कुमार आगे बढ़ कर

शय्या के पास घुटनों के बल बैठ गए। एक बार उन्होंने शिशु का मुँह चूमने का उपक्रम किया, पर जागने के भय से वे वैसे ही बैठे रहे। गोपा की सुख-निद्रा पर उनकी दृष्टि थी। अश्रु वेग से उमड़ रहे थे। अन्त में उन्होंने हृदय में वह साहस सञ्चित किया, जो पृथ्वी पर कभी किसी तरुण ने नहीं किया था। वे धीरे से उठे। उन्होंने दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर आकाश में स्तब्ध तारागणों की ओर देखा, और फिर एक दृष्टि गोपा के स्निग्ध यौवन और शिशु के अज्ञात मोह पर डाली और चल दिए।

पृथ्वी पर अन्धकार छा रहा था। उन्होंने फाटक पर आकर देखा, चन्न उपस्थित है।

"चन्न, क्या तुम जाग्रत हो ?"

"परम परमेश्वर महाभट्टारक पादीय युवराज××"

"चन्न, एक घोड़ा तो ले आओ।"

"जो आज्ञा।"

तारों के क्षीण प्रकाश में वह महान राजकुमार राज-पाट, सुख-भोग और ऐश्व पर लात मार कर महान प्रकाश की खोज में जा रहा था।

× × ×

"चन्न ! बस, अब आवश्यकता नहीं। तुम घोड़ा लेकर राजधानी चले जाओ।"

"स्वामिन ! मैं आपको प्राण रहते न छोड़ूँगा ।"

"चन्न ! लो, ये बहुमूल्य वस्त्र भी तुम ले जाओ । अब कहो—तुम्हारा स्वामी कौन है ?"

"महायुवराज ! यह सम्भव ही नहीं ।"

"ठहरो ।" युवराज ने तलवार से अपने सुन्दर केश-गुच्छ काट कर तलवार चन्न के सम्मुख रख कर कहा—तो इसे भी सँभालो ।

चन्न धरती पर गिर कर रोने लगा । वह बोला—प्रभु ! मैं कदापि-कदापि न जाऊँगा ।

"चन्न ! वत्स ! हठ मत करो । शोक भी मत करो, आनन्दित हो । मैं सत्य की खोज में जा रहा हूँ । मैं जगत को आनन्द प्रदान करूँगा । जाओ वत्स ! पिता जी और गोपा को धैर्य प्रदान करो ।"

एक आन्तरिक तेज से दीप्तमान पुरुष की तरह सिद्धार्थ चल दिए । चन्न पछाड़ खाकर गिर पड़ा । सिद्धार्थ के नेत्र सत्य के प्रचण्ड उत्साह से देदीप्यमान हो रहे थे । उनका यौवन-सौन्दर्य उस पवित्र तेज में परिवर्तित हो गया था, जो उनके श्रीमुख पर दृष्टिगोचर हो रहा था ।

९

राजगृह महानगरी जनपूर्ण हो रही थी । प्रतापी बिम्बिसार वहाँ के सम्राट थे । जब मध्याह्न काल होता—गृहस्थ भोजन कर चुकते—वीतरागी सिद्धार्थ भिक्षा-पात्र हाथ में

लिए नगर की गलियों में भिक्षा माँगने निकलते। वह प्रभावान मुख-मण्डल, विनम्र गति, पृथ्वी पर झुके हुए नेत्र और ओष्ठ-सम्पुट से मृदु-ध्वनि में निकलने वाला 'कल्याण' शब्द नगरवासियों के लिए अपूर्व था। वे प्रत्येक घर से एक ग्रास भोजन ग्रहण करते थे, और बारह ग्रास लेकर नगर के बाहर चले जाते थे। जनपथ और राजपथ पर उनके पीछे भीड़ लगी रहती। बाल-वृद्ध उनके लिए मार्ग छोड़ देते, उनके भिक्षा-पात्र में ग्रास डाल कर कृतार्थ होते, और सोचते कोई महान मुनि नगर में आए हैं।

सम्राट बिम्बिसार ने सुन कर गुप्तचरों द्वारा जाना कि शाक्य वंश का राजपुत्र राज-पाट त्याग वनवासी हुआ है। वह राजकीय वस्त्र पहन, स्वर्ण-मुकुट सिर पर धारण कर, अमात्यों के सहित उससे मिलने आया। मुनि सिद्धार्थ वृक्ष के नीचे गम्भीर मुख-मुद्रा किए बैठे थे। बिम्बिसार ने प्रणाम कर कहा—आपके हाथ में राज्य-रश्मि शोभा देती है, भिक्षा-पात्र नहीं। आपका तारुण्य इस तपस्या के योग्य नहीं। श्रेष्ठ और ज्ञानी पुरुषों को शक्ति-सम्पन्न होना चाहिए। धर्म खोकर धनी होना उत्तम नहीं, पर धन, धर्म और बल को प्राप्त कर जो इन्हें दूरदर्शिता से भोग करे वह मेरा गुरु है।

मुनि सिद्धार्थ ने आँख उठा कर सम्राट को देखा और कहा—राजन्! आप धार्मिक और विवेकी हैं, आपका

कथन सत्य है ; पर मैं सारे बन्धनों से पृथक् हो चुका हूँ, क्योंकि मैं मोक्ष का जिज्ञासु हूँ। जिसे उस सच्चे ज्ञान की अभिलाषा है, उसे उन सब बातों से विरक्त हो जाना चाहिए, जो उसके चित्त को अपनी ओर खींचती हैं। उसके लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अधिकार और वासनाओं का त्याग करना परम आवश्यक है। मैंने वैभव की असारता को समझ लिया है, और अब मैं अमृत के धोखे विष-पान नहीं करूँगा। सम्राट ! आप मुझ पर करुणा करने का कष्ट न उठाइए। करुणा के पात्र वे हैं, जो संसार की चिन्ता में दिन-रात व्याकुल रहते हैं ; जिनके हृदय में न शान्ति है और न मन में एकाग्रता। हे राजन ! कहिए तो एक राजा और भिक्षुक की मृतक देह में क्या अन्तर है ?

सम्राट विम्बिसार ने बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम किया और कहा—हे त्यागी ! आप धन्य हैं ! आपकी मनोकामना पूर्ण हो। परन्तु आप पूर्ण बुद्ध होने पर एक बार मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर कृतार्थ अवश्य करें।

मुनि सिद्धार्थ ने सम्राट की प्रार्थना को स्वीकार किया और चल दिए।

१०

"हे विद्वानो ! क्या आप ही प्रसिद्ध दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता आराद और उदरक हैं ? मैं आपसे आत्मा के विषय की जिज्ञासा करने आया हूँ ?"

"हे मुनि ! हम वही हैं। तुम्हें जो संशय हो, कहो।"

"मैं यह जानना चाहता हूँ कि आत्मा क्या है ?"

"आत्मा वह है, जो देखता, चखता, सूँघता और छूता है ; फिर भी वह न तुम्हारा शरीर है, न आँख, कान, नाक और न मुख। आत्मा वह है, जो त्वचा द्वारा छूता है, जिह्वा से रस लेता है, आँख से देखता, और कान से सुनता है।"

"हे विद्वानो ! आत्मा की मुक्ति क्या है ?"

"जिस प्रकार पक्षी पींजरे से छूट कर स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा सब बन्धनों और उपाधियों से छूटने पर मुक्त हो जाती है।"

"परन्तु क्या उष्णता अग्नि से भिन्न है ? मनुष्य रूप, रस, वासना, संस्कार, बुद्धि, चित्त आदि का सङ्घात है ; यही सङ्घात तो 'मैं' है ; वही 'मैं' तो आत्मा है। तब वह भिन्न सत्ता कैसे हुई ? और जब तक वह 'अहं' शेष है, तब तक तुम्हारी वास्तविक मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।"

"परन्तु मुनि ! क्या तुम अपने चारों ओर कर्म-फल को नहीं देखते ? वह कौन सी बात है, जिसने मनुष्यों के आचार, विचार, अधिकार, जाति और वैभव में भिन्नता उत्पन्न कर दी है ? वह कर्म-फल ही तो है।"

"कर्मफल तो है ही, पर आत्मवाद का आधार क्या है ? संसार में कोई काम, वस्तु, फल या विचार नहीं हो

सकता, यदि उसके पूर्व उसका कारण विद्यमान न हो। किसान जो बोवेगा, फ़सल पर वही काटेगा। परन्तु 'अहं' की भिन्न सत्ता और उसका शरीरोत्तर गमन, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है? क्या मेरी व्यक्ति-विशेषता प्रवृत्ति और मन—दोनों का—सङ्घात नहीं है? क्या मेरे व्यक्ति-वैशिष्ट्य में शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियाँ सम्मिलित नहीं हैं? यदि किसी मनुष्य के अन्दर से भूख-प्यास, चलना-फिरना, रोना-हँसना आदि निकाल दिए जायँ, तो फिर उसकी मनुष्यता की क्या सार्थकता रह गई? इन प्राकृतिक और दैहिक बातों के बिना मनुष्य यथार्थ में क्या है? जिस प्रकार कल का 'मैं' आज के 'मैं' का पूर्वज है, और कल के 'मैं' ने आज के 'मैं' में जन्म लिया है, एवं आज का 'मैं' कल के 'मैं' में फिर जन्म लेगा, उसी प्रकार पूर्व जन्मों का अनादि प्रवाह चल रहा है।"

"हे मुनि! तुम अभी मूर्ख हो।"

"हे विद्वानो! तुम मनन करो।"

कुमार सिद्धार्थ वहाँ से चल दिए। उस बिल्व-वन में पाँच तपस्वी कठोर तप कर रहे थे। मुनि सिद्धार्थ ने भी तप करना शुरू किया। छः वर्ष के कठोर तप से उनका शरीर सूख कर लकड़ी के समान हो गया, वे मृतप्राय हो रहे थे, परन्तु उन्होंने सोचा—खेद है कि इन उपवासों और व्रतों से मुझे कुछ भी शान्ति नहीं मिली। यह सब मिथ्या

है। वे उठे, उन्होंने स्नान किया, परन्तु दुर्बलता के कारण गिर पड़े। गोप-कन्या नन्दा ने दया कर उन्हें खीर दी, जिससे उनके शरीर में बल का सञ्चय हुआ। वे तपश्चर्या छोड़कर धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगे। अन्ततः वहाँ से भी चल दिए।

बोधि-वृक्ष निकट आ गया। मुनि ने उसे देखा। पृथ्वी कम्पायमान होने लगी। जगत में प्रकाश छा गया। मार—जो विषयों का पोषक, और मृत्यु का प्रेरक है, तथा सत्य का शत्रु है—आया। उसकी तीनों लुभावनी पुत्रियाँ अपनी राक्षसी सेना के साथ थीं। सम्मुख आए मार ने भयानक गर्जना की। मुनि बोधि-वृक्ष के नीचे शान्त बैठे रहे। उसकी तीनों पुत्रियों ने उन पर बाण फेंके, पर प्रबल जितेन्द्रिय के हृदय में कोई तामसी इच्छा न उत्पन्न हुई। तब समस्त दुष्ट आत्माओं ने उन पर एक साथ आक्रमण किया, पर नारकीय ज्वालाएँ सुगन्धित पवन के झोंकों में परिवर्तित हो गईं, वज्रपात ने कमल-पुष्प का रूप धारण कर लिया। मार पराजित होकर भागा। एक अलौकिक तेज दिशाओं में व्याप्त हो गया।

मुनि सिद्धार्थ ध्यान-मग्न थे। वे संसार की विपत्तियों, कष्टों और दुष्कर्मों के बुरे परिणामों को प्रत्यक्ष देख रहे थे। वे सोच रहे थे—संसार की यह कैसी विचित्र गति है! वे एकाएक बोल उठे—धर्म सत्य है, धर्म ही मनुष्यों को अज्ञान, पाप और दुःखों से बचाता है। जीवन-विकास

की बारह कड़ियाँ हैं, जिन्हें द्वादश निदान कहते हैं। सत्य-चतुष्टय ये हैं—(१) दुःख (२) दुःख का कारण (३) दुःखों की समाप्ति (४) आष्टाङ्ग मार्ग (जिन पर चलने से दुःखों का नाश होगा)। मुनि सिद्धार्थ इस सिद्धान्त को प्राप्त करके बुद्ध हो गए। वे बोले—धन्य है वह, जिसने धर्म को समझ लिया! धन्य है वह, जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता! धन्य है वह, जिसने पापों पर विजय प्राप्त की है! वही महापुरुष है—ज्ञानी है—बुद्ध है।

बुद्ध इन सिद्धान्तों की प्राप्ति से उदीयमान तेज से दिप रहे थे। वे शान्त और गम्भीर मुद्रा से बैठे थे। दो व्यक्तियों ने चरणों में सिर रख दिया।

"हे मनुष्यो! तुम्हारा कल्याण हो! तुम कौन हो?"

"हे प्रभु! मेरा नाम तपुस है और इसका मल्लिका; हम व्यापारी हैं। यह चावल की रोटी और शहद हमारे पास है; इसे ग्रहण कर कृतार्थ करें।"

"हे सज्जनो! मैंने तुम्हारा भोजन ग्रहण किया। बुद्ध पद प्राप्त होने पर यह मेरा प्रथम भोजन हुआ। हे धर्मात्माओ! तुम तथागत बुद्ध के प्रथम शिष्य बने। तथागत बुद्ध का कथन है—जगत का कोई अन्याय, अत्याचार, और पाप स्वार्थ से रहित नहीं। सारे दोषों का मूल स्वार्थी मन के अन्दर है। पाप न धरती में है, न आकाश में; न हवा में, न पानी में; न रात में, न दिन में; वह स्वार्थी

मनुष्य के मन में है। ज्ञान तो तभी मिल सकता है, जब स्वार्थ की निस्सारता और अस्थिरता का पूर्ण ज्ञान हो जाय। मनुष्य उच्च और आदर्श जीवन तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसे यह निश्चय हो जाय कि स्वार्थ-त्याग के बिना कोई मनुष्य आत्मिक जीवन के पवित्र सुख को अनुभव नहीं कर सकता। यथार्थ सुख स्वार्थपरायणता और विषय-भोग में नहीं है; कृत्रिमता और आडम्बर को दूर करने में है।

इतना कह कर बुद्ध मौन हो गए। दोनों व्यापारियों ने चरणों में गिर कर कहा—हे प्रभु! हम बुद्ध की शरण हैं, हम बुद्ध के धर्म को ग्रहण करते हैं।

बुद्ध ने नेत्र उठा कर देखा, और दोनों हाथ ऊँचे करके कहा—कल्याण! कल्याण!!

११

मगध में हलचल मच गई थी। सभी की जिह्वा पर एक ही बात थी—शाक्य मुनि पतियों को बहका कर पत्नियों से पृथक् करता है। वह वंशों का नाश करता है।

बुद्ध अपने प्रमुख शिष्यों सहित राजगृह में पधारे थे। भिक्षु जब नगर में निकलते, तब लोग कहते—देखें, अब किसकी बारी आती है!

शारिपुत्र मौद्गलायन, अश्वजित, आचार्य महाकश्यप, और उनके भ्राता, सभी भगवान बुद्ध के शिष्य हो गए

थे। जो प्रख्यात विद्वान और तत्वदर्शी था, राजगृह का वह महा धनपति यशस भी बुद्ध की शरण जा चुका था, और उसके महा धनवान चारों मित्र, जो काशी में रहते थे, उसके अनुयायी बन चुके थे।

मगध के सम्राट बुद्ध के दर्शन को पधारे। सहस्रावधि मनुष्य उनके साथ थे। लाखों की सम्पदा भेंट को लाए थे। राजा के साथ उसके सभी मन्त्री और सेनानायक थे। उन्होंने देखा—जातिलों के आचार्य महाकश्यप के साथ भगवान बुद्ध बैठे हैं। सम्राट ने चकित होकर सोचा कि शाक्य मुनि ने क्या कश्यप को अपना आध्यात्मिक गुरु माना है या कश्यप गौतम का शिष्य हो गया है!

बुद्ध ने सम्राट के संशय को समझ कर कहा—कश्यप! तुमने कौन सा ज्ञान प्राप्त किया है, और वह कौन सी बात है, जिसने तुमको अग्नि-पूजा और कष्टदायक तपश्चर्या छोड़ने के लिए बाध्य किया है?

कश्यप ने कहा—अग्नि की उपासना से दुःखों और प्रपञ्चों के चक्र में पड़े रहने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हुआ। अब मैंने इसे त्याग दिया है। तपस्याओं और पशु के बलिदानों के स्थान में मैं सर्वोच्च निर्वाण की प्राप्ति में लग गया हूँ।

तब बुद्ध ने आँख उठा कर सम्राट की ओर देखा और कहा—जो अपने 'अहं' रूप को जानता है, और समझता

है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को किस प्रकार करती हैं, वह स्वार्थ और अहङ्कार के फेर में नहीं पड़ता और अभय शान्ति उपलब्ध करता है। संसार को 'मैं' का ख्याल है। मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा नाम, मेरा रूप, मेरा शत्रु, उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे धोखा दिया, उसने मुझे बदनाम किया, इत्यादि सङ्कल्प-विकल्प ही समस्त झूठे भयों और दुष्टभावों के उत्पादक हैं। कोई कहते हैं कि यह 'मैं' मृत्यु के पश्चात् स्थिर रहता है। कोई कहते हैं, उसका अन्त हो जाता है, परन्तु वे दोनों भूल पर हैं। इन्द्रियों का पदार्थों के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। उससे स्मृति का विकास होता है। जैसे सूर्य की शक्ति से शीशे में अव्यक्त अग्नि व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ और पदार्थों के मिलने से स्मृति आदि का क्रमशः विकास होता और चेतन शक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बदलने से उस सत्ता का प्रादुर्भाव होता है, जिसे 'अहं' कहते हैं। बीज से अङ्कुर फूटता है, परन्तु अङ्कुर से बीज नहीं फूटता। दोनों एक नहीं हैं, किन्तु एक दूसरे से भिन्न भी नहीं हैं। इस प्रकार 'अहं' एक भ्रम है, 'मैं' क्षणिक है। वह क्षण-क्षण में बदलता है। जो इस तत्त्व को समझेगा वह काम, क्रोध, लोभ, मोह को क्षणिक परिणाम समझ, उन्हें दबाने की कोशिश करेगा। स्वार्थ की प्रबल प्रवृत्ति को रोको और फिर तुम मन की उस निश्चय अवस्था को प्राप्त

करोगे, जो पूर्ण शान्ति, परम पुरुषार्थ, और सत्य ज्ञान की दात्री है।

माता जिस प्रकार बच्चे के लिए प्रति क्षण आत्म-बलिदान करती है, उसी प्रकार सत्य-ज्ञाता विवेकी को शुद्ध हृदय से परहित की सदा कामना करनी चाहिए। यह भावना जितनी प्रौढ़ होगी, उतना ही निर्वाण पद निकट होगा। यही बौद्ध-धर्म है।

बुद्ध जब यह उपदेश देकर शान्त हुए, तब सम्राट ने नत-मस्तक होकर कहा—भगवान! जब मैं राजकुमार था, तब पाँच भावनाएँ मेरे मन में थीं; (१) मैं राजा होऊँ, वह पूरी हुई; (२) पवित्रात्मा बुद्ध मेरे ही शासन-काल में मेरे राज्य में पधारें, वह भी पूरी हुई; (३) मैं उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनका सत्कार करूँ, यह भी पूर्ण हुई; (४) मैं भगवान का पवित्र उपदेश सुनूँ, यह भी पूरी हुई; (५) मैं भगवान के धर्म को समझ सकूँ, वह भी पूर्ण हुई। प्रभो! आपका सत्य महान है। आप उस बात को स्थापित करते हैं, जो अब तक अस्त-व्यस्त रही है। आपने उसे व्यक्त किया, जो अब तक अव्यक्त था। आपने उन्हें मार्ग बताया, जो अब तक भटके थे। आप अन्धकार में पड़े हुओं के लिए दीपक जलाते हैं। आज मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ। सङ्घ की शरण लेता हूँ।

बुद्ध ने कृपा-दृष्टि से सम्राट को देखा और समस्त उपस्थित मण्डल बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गया।

१२

कपिलवस्तु में उल्लास था। पिता का आतिथ्य स्वीकार करने भगवान बुद्ध ७ वर्ष बाद लौट रहे हैं। महाराज शुद्धोदन अपने मन्त्रिगण सहित स्वागत को आए। वे अपने पुत्र के तेज और सौन्दर्य को दूर से देख गद्‌गद हो गए। उन्होंने मन ही मन कहा—निस्सन्देह यह मेरा पुत्र है। कुमार सिद्धार्थ का ऐसा ही रूप-रङ्ग था। परन्तु यह महामुनि अब सिद्धार्थ नहीं रहा। वह बुद्ध है, पवित्रात्मा है, सत्य का स्वामी और मनुष्यों का शिक्षक है।

वे रथ से उतर पड़े और आनन्दाश्रु बहाते हुए बोले—आज ७ वर्ष बाद मैंने तुम्हें देखा है। क्या तुम जानते हो कि तुम्हें देखने की मुझे कितनी इच्छा थी?

प्रणाम करके बुद्ध पिता के सम्मुख बैठ गए। राजा के जी में आया कि उनका नाम लेकर पुकारें। पर साहस न हुआ। वे मानों मन ही मन कह रहे थे—पुत्र सिद्धार्थ! आ और पिता के पास पुत्र की भाँति ही रह। अन्त में उन्होंने कहा—मैं यह सारा राज-पाट तुम्हें सौंपना चाहता था; पर देखता हूँ, राज्य को तुम तुच्छ समझते हो।

बुद्ध ने कहा—पिता! आपका हृदय प्रेमपूर्ण है, पर आपका जितना प्रेम मुझ पर है, उतना ही यदि प्रजा पर

भी हो तो आपको सिद्धार्थ से बढ़ कर पुत्र मिल सकते हैं। आप मेरे लिए मन से पुत्र-भाव निकाल डालिए। यदि आप अपने सम्मुख उस बुद्ध (ज्ञानी) को देखेंगे, जो सत्य का शिक्षक और सदाचार का प्रचारक है, तो आपको निर्वाण की शान्ति प्राप्त होगी। राजा पुत्र की यह वाणी सुन आह्लादित हो गए। वे आँसू भर कर कहने लगे—आश्चर्यजनक परिवर्त्तन है। इस परिवर्तन से हृदय को दुःख और व्याकुलता नहीं होती। पहले मैं शोकपूर्ण था, मानों मेरा हृदय फट जायगा, अब मैं प्रसन्न हूँ। तुमने जगत के लिए राज्य-सुख त्यागा। अच्छा, तुम संसार में अष्टाङ्ग मार्ग का प्रचार करो।

महाराज राजभवन में चले गए और बुद्ध एक कुञ्ज में ठहरे।

प्रातःकाल भगवान बुद्ध भिक्षा-पात्र लेकर नगर में भिक्षा के लिए चले। नगर में हाहाकार मच गया। रथ और हाथियों पर सवार होकर जो पुरुष रत्न बिखेरता था, वह नङ्गे पैर घर-घर एक ग्रास अन्न माँगता है।

राजा ने कहा—वत्स बुद्ध! ऐसा न करो। मैं तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दूँगा।

"पर यह हमारी धर्म-परिपाटी है।"

"पर तुम उस राजवंश के हो, जिसने कभी भिक्षा नहीं माँगी।"

"मैं उस बुद्ध-वंश में हूँ, जो सदा भिक्षा-वृत्ति पर सन्तोष करता आया है।"

राजा निरुत्तर हो उन्हें राजमहल में ले आए। राज-मन्त्रियों और अन्तःपुर की स्त्रियों ने बुद्ध की अर्चना की। बुद्ध ने पूछा—गोपा कहाँ है ? वह क्यों नहीं आई ?

एक दासी ने बद्धाञ्जलि होकर कहा—स्वामिन ! वे कहती हैं, भगवान को स्वयं ही यहाँ आना चाहिए।

बुद्ध तत्क्षण उठ कर चल दिए। चार प्रमुख शिष्य उनके साथ थे। गोपा—आनन्द और प्रेम की मधुर लतिका गोपा—अपने सप्त वर्षीय पुत्र के साथ अपनी समस्त कटु स्मृतियों को कस कर छाती में छिपाए, उस महावीतरागी, अतीत प्रिय पति को धरती पर दृष्टि दिए अपने कक्ष में आती देख रही थी। द्वार के निकट पहुँच कर बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य शारिपुत्र मौद्गलायन से कहा—मैं तो माया-पाश से मुक्त हुआ, पर यशोधरा अभी बद्ध है। उसने मुझे चिरकाल से नहीं देखा। वह वियोग से व्याकुल है। यदि मिलन-अभिलाषा अब भी पूर्ण न होगी, तो उसका हृदय फट जायगा। इसलिए मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ कि यदि वह मुझे छूना चाहे तो रोकना मत। शारिपुत्र मौद्गलायन ने विनम्र होकर कहा—जैसी भगवान की आज्ञा।

वह मलिन वस्त्र और धूल-धूसरित वेश, केश-विहीना यशोधरा, मूर्तिमती वियोग और विषाद की छाया, चुपचाप

खड़ी एकटक देख रही थी। वह इस बात को भूल गई कि उसका पति अब जगद्गुरु और सत्य का अन्वेषक है। वह सम्मुख आते ही बुद्ध के पैर पकड़, फूट-फूट कर रोने लगी। जब वह प्रकृतिस्थ हुई, तब उसने श्वसुर को देखा और हट गई। राजा ने कहा—यह उसका मनोवेग नहीं है, हृदयस्थ प्रकृत प्रेम के स्रोत का प्रवाह है। जब उसे ज्ञात हुआ कि तुमने केश काट डाले हैं, तब उसने भी इसका अनुसरण किया। जब उसने सुना कि तुमने सभी भोजन त्याग दिए, तब इसने भी सब कुछ छोड़ दिया। यह मृत्पात्रों में खाती और भूमि पर सोती है। उससे बड़े-बड़े राजकुमारों ने विवाह की प्रार्थना की, तब उसने कहा—मेरे स्वामी का मुझ पर पूर्ण अधिकार है, और मैं अब भी उनके चरणों की दासी हूँ।

बुद्ध ने करुण एवं गम्भीर स्वर में कहा—हे कल्याणबुद्धे! तुम धन्य हो! तुम बड़ी पुण्यात्मा हो! तुम्हारी पवित्रता, सुशीलता और भक्ति ने मुझे लाभ पहुँचाया है और मैं सत्य ज्ञान को उपलब्ध कर चुका हूँ। तुम्हारा हार्दिक दुःख और शोक अवर्णनीय है। परन्तु तुमने जो आध्यात्मिक सम्पत्ति अपने श्रेष्ठ और शुद्धाचरण से प्राप्त की है, वह तुम्हारे समस्त दुःखों को आनन्द में परिवर्तित कर देगी।

यशोधरा ने धैर्य धारण कर मन के वेग को रोका। अब वह समझ गई कि यह महापुरुष मेरा पति नहीं, जगत

का महान धर्मगुरु है। उसने दृढ़ता से कहा—हे स्वामी! पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है। यह आपका पुत्र है। आपके पास चार खज़ाने हैं; उन्हें मैंने नहीं देखा; पर आप उन्हें अपने पुत्र को प्रदान करें। इतना कह कर उसने सप्तवर्षीय बालक को बुद्ध के चरणों में डाल दिया।

बुद्ध ने कहा—तुम्हारा मातृत्व धन्य है। तुम्हारे पुत्र को मैं ऐसा द्रव्य न दूँगा, जो नाशवान हो और जो उसे शोक या चिन्ता में डाले। मैं उसे चारो सत्य का भेद समझाऊँगा, यदि उसमें उन्हें धारण की योग्यता हुई।

बालक ने कहा—हे पिता! मैं योग्य बनूँगा।

"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो! तुम मेरे साथ आओ।"

बालक को अग्रसर कर बुद्ध लौट गए। गोपा अपने उस एकमात्र हृदय-धन को भी गँवा कर ठगी सी खड़ी रह गई।

× × ×

एशिया के महासाम्राज्य उस बुद्ध के सत्य-कर्म के सम्मुख झुके और वह महान धर्मात्मा पृथ्वी पर सदा के लिए अमर हो गया।

अम्बपालिका

अम्बपालिका

मुज़फ़्फ़रपुर से पश्चिम की ओर जो पक्की सड़क जाती है, उस पर मुज़फ़्फ़रपुर से लगभग १८-२० मील पर 'बैसौढ़' नामक एक बिलकुल छोटा सा गाँव है, जिसमें ३०-४० घर भूमिहार ब्राह्मणों के और कुछ घर क्षत्रियों के बच रहे हैं। इस गाँव के चारों ओर कोसों तक खण्डहर, टीले और पुरानी टूटी-फूटी मूर्तियाँ ढेर की ढेर मिलती हैं, जो इस बात की स्मृति दिलाती हैं कि यहाँ कभी कोई बड़ा भारी समृद्धिशाली नगर बसा रहा होगा।

वास्तव में अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व यहाँ एक विशाल नगर बसा था, जिसका नाम वैशाली था, और जो प्रबल प्रतापी लिच्छविगण तन्त्र के शासन में था।

वैशाली लिच्छविगण तन्त्र की एक प्रधान नगरी और रियासत थी। नगर व्यापारियों, जौहरियों, शिल्पकारों और भिन्न-भिन्न प्रकार के देश-विदेश के यात्रियों से परिपूर्ण था। 'श्रेष्ठि चत्वर' नगर का प्रधान बाज़ार था, जहाँ जौहरियों और बड़े-बड़े व्यापारियों की कोठियाँ थीं और जिनकी व्यापारिक शाखाएँ समस्त उत्तर भारत में फैली हुई थीं। दुकानदार स्वच्छ परिधान धारण किए पान कुचरते हँस-

हँस कर ग्राहकों से बात करते, जौहरी, पन्ना, लाल, मूँगा, मोती, पुखराज, हीरा और अन्य रत्नों की परीक्षा तथा लेन-देन में व्यस्त रहते थे। निपुण कारीगर अनगढ़ रत्नों को सान चढ़ाते, स्वर्ण-आभरणों में रङ्गीन रत्न जड़ते और मोती गूँथते थे। गन्धी लोग केसर के थैले हिलाते थे। चन्दन के तेलों में भिन्न-भिन्न सुगन्ध मिला कर इत्र बनाए जाते और नागरिक उनका खुला उपयोग करते थे। रेशम और बहुमूल्य महीन मलमल के व्यापारियों की दुकानों पर बग़दाद और फ़ारस के व्यापारी लम्बे-लम्बे लबादे पहने, भीड़ की भीड़ पड़े रहते थे। नगर की गलियाँ सकरी और तङ्ग थीं और उनमें गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी थीं, जिनके अँधेरे तह-खानों में इन धन-कुबेरों का बड़ा भारी कोष और द्रव्य रक्खा रहता था।

सन्ध्या-समय सुन्दर श्वेत बैलों के रथों पर, जिन पर बढ़िया सुनहरा काम हुआ रहता था, नागरिक सैर करने राजपथ पर निकलते थे। इधर-उधर हाथी झूमते हुए बड़ा करते थे और उन पर उनके अधिपति रत्नाभरणों से सज्जित अपने दासों तथा शरीर-रक्षकों से घिरे हुए चला करते थे।

२

अभी दिन निकलने में देर थी। पूर्व की ओर प्रकाश की आभा दिखाई पड़ रही थी, पर मार्ग में अँधेरा था। राजमहल के तोरण पर अभी तक प्रकाश जल रहा था।

चारों ओर प्रतिहार पड़े सो रहे थे। उनमें से केवल एक माला टेक कर खड़ा नींद में झूम रहा था। तोरण के इधर-उधर कई कुत्ते पड़े सो रहे थे।

धीरे-धीरे दिन का प्रकाश फैलने लगा। राजवर्गी इधर से उधर आने-जाने लगे। प्रतिहार रक्षी सेना का एक नवीन दल तोरण पर आ पहुँचा। उसमें से एक दण्डधर ने आगे बढ़ कर भाले के सहारे खड़े-खड़े ऊँघते मनुष्य को पुकार कर कहा—महानामन! सावधान होओ और घर जाकर विश्राम करो। महानामन ने सजग होकर अपने दीर्घकाय को और भी विस्तार करके एक ज़ोर की अँगड़ाई ली और यह कह कर कि तुम्हारा कल्याण हो, वह अपना भाला धरती पर टेकता हुआ तीसरे तोरण की ओर बढ़ गया। पश्चिम की ओर पुराना प्रासाद और राजमहल का उपवन था, जिसकी देख-रेख महानामन के सुपुर्द थी। यहीं उसकी छोटी सी कुटिया थी, जहाँ वह अपनी प्रौढ़ा पत्नी के साथ १७ वर्ष से एकरस—आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी में रहता था।

वह नींद में झूमता हुआ ऊँघ रहा था। अब भी प्रभात का प्रकाश धुँधला था। उसने अपनी कुटी के पास एक कदली वृक्ष के नीचे, आम्रकुञ्ज में एक श्वेत वस्तु पड़ी रहने का भान किया। निकट जाकर देखा, एक नवजात शिशु स्वच्छ वस्त्रों में लिपटा अपना अँगूठा चूस रहा है। आश्चर्य-

चकित होकर महानामन ने शिशु को उठा लिया। देखा, कन्या है। उसने अपनी स्त्री को पुकार कर उसे वह कन्या देकर कहा—देखो, आज इस प्रकार अपने जीवन की पुरानी साध मिटी।

वह कन्या—उस दरिद्र लिच्छवि महानामन के उस दरिद्रावास में शशिकला की भाँति बढ़ने लगी। उसका नाम रक्खा गया अम्बपालिका।

३

वैशाली से उत्तर-पश्चिम २५ कोस पर, एक छोटे से गाँव में, एक किनारे पर एक साधारण घर था। उसके द्वार पर एक वृद्ध प्रातःकाल बैठा दातुन कर रहा था। पूर्व के द्वार पर से पैर की आहट सुन कर उसने पीछे को देखा, एक चम्पक-पुष्प की कली के समान ११ वर्षीया बालिका—अति सुन्दरी बालिका, जिसके घुँघराले बाल लहलहा रहे थे, दौड़ती-दौड़ती बाहर आई, और वृद्ध को देख उससे लिपटने को लपकी, पर पैर फिसलने से गिर गई। वह गिर कर रोने लगी। वृद्ध ने दातुन फेंक, दौड़ कर बालिका को उठाया, उसकी धूल झाड़ी; बालिका ने रोना रोक कर कहा—बाबा, घर में आटा बिलकुल नहीं है, हम लोग क्या खायँगे? वृद्ध ने उसे गोद में उठाते हुए कहा—'कुछ चिन्ता नहीं, मैं अभी गेहूँ पिसवाने की व्यवस्था करता हूँ।' बालिका ने कहा—'गेहूँ का भी तो एक दाना नहीं है?' वृद्ध क्षण

भर अवाक् रहा। उसने कहा—'तब ठहर, मैं अभी शिकार मार लाता हूँ।' बालिका ने रोक कर कहा—'नहीं-नहीं, मैं पक्षी का मांस नहीं खाऊँगी।"

वृद्ध महानामन लिच्छवि था और कन्या थी अम्बपालिका। वृद्ध की पत्नी का स्वर्गवास हुए ८ साल व्यतीत हो गए थे। उसके बाद कन्या की परिचर्या में बाधा पड़ती देख, महानामन ने राज-सेवा छोड़ कर अपने ग्राम में आकर बालिका की सेवा-शुश्रूषा अबाध रूप से करने का निश्चय कर लिया था। वह गत ८ वर्षों से इसी गाँव में रहता। अम्बपालिका को उसने इस तरह पाला, जैसे पक्षी चुग्गा दे-देकर अपने शिशु-पक्षी को पालता है। परन्तु खेद है, धीरे-धीरे उसकी छोटी सी कमाई की क्षुद्र पूँजी, यत्न से खर्च करने पर भी समाप्त हो ही गई। और फिर धीरे-धीरे पत्नी के स्मृति-रूप दो-चार क्षुद्र आभूषण भी उदर-गुहा में पहुँच चुके। अब आज क्या किया जाय? अब तो आटा भी नहीं, एक दाना गेहूँ भी नहीं। वृद्ध के प्राणों की पुतली, इस प्रश्न पर चिन्तित हो रही है। यह और भी कष्ट का प्रश्न था। पर वृद्ध ने हँस कर कहा—'अच्छा, अच्छा, मैं अभी गेहूँ लिए आता हूँ।' इतना कह कर वृद्ध ने बालिका के तड़ातड़ ३-४ चुम्बन लिए और उसे गोद से उतारते-उतारते दो बूँद आँसू गिरा दिए। बालिका भीतर गई और वृद्ध चिन्तामग्न बैठ गया। अन्ततः उसने

एक बार फिर महाराज की सेवा में उपस्थित होकर पुरानी नौकरी की याचना करने का निश्चय किया। उसके बाहु का पौरुष तो थक चुका था। परन्तु क्या किया जाय, कन्या का विचार सर्वोपरि था। फिर भी वृद्ध के अति गम्भीर होने का यही मात्र कारण न था। लाख वृद्ध होने पर भी उसकी भुजा में बल था—बहुत था। पर उसकी चिन्ता थी—बालिका का अप्रतिभ सौन्दर्य। सहस्राधिक बालिकाएँ भी क्या उस पारिजात-कुसुम तुल्य कुन्द-कलिका के समान थीं? किस पुष्प में उतनी गन्ध, कोमलता और सौन्दर्य था? उसे भय था कि राज-नियमानुसार वह विवाह से वञ्चित करके कहीं नगर-वेश्या न बना दी जाय; क्योंकि लिच्छविगण तन्म में यह क़ानून था कि राज्य की जो कन्या अत्यधिक सुन्दरी होती थी, उसे किसी एक पुरुष की पत्नी न होने दिया जाकर नागरिकों के लिए सुरक्षित रक्खा जाया करता था। वास्तव में इसी भय से महानामन राजधानी छोड़ कर भागा था, जिससे किसी की दृष्टि उस बालिका पर न पड़े। पर अब उपाय न था। महानामन ने राजधानी में एक बार जाने का निश्चय किया।

४

वैशाली की ओर जाने वाली सड़क पर वर्षा के कारण बड़ी कीचड़ हो रही थी। कहीं-कहीं तो नालों का पानी कच्ची सड़क को तोड़ कर, सड़क पर नदी की तरह बह

रहा था। अभी वर्षा हो चुकी थी। वृद्ध और उसकी पुत्री दोनों भीग गए थे, पर धीरे-धीरे बढ़े चले जा रहे थे। हवा बन्द थी, गर्मी बढ़ गई थी और दूरस्थ पर्वतों की चोटियों में अस्त होते हुए सूर्य को देख-देख कर वृद्ध डर रहा था। निकट किसी बस्ती के चिह्न न थे। यदि यहीं चौपट में अँधेरा हो गया तो कहाँ रात कटेगी, बच्ची खायगी क्या, यही वृद्ध के भय का कारण था। वह लाठी टेकता-टेकता धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। वह स्वयं बहुत थक गया था और बालिका तो क्षण-क्षण में विश्राम की इच्छा प्रकट कर रही थी। बालिका ने कहा—पिता! अब मैं और नहीं चल सकती, मेरे पैरों में देखो, लोहू बह रहा है। वे फट गए हैं। वृद्ध ने स्नेह से उसे चुमकार कर कहा—बस अब थोड़ी दूर और; निकट ही कहीं गाँव या बस्ती मिलने पर ठहरने में सुभीता रहेगा। पर बालिका और कुछ पग चल कर मार्ग ही में एक ऊँची जगह पर बैठ गई। वृद्ध भी निरुपाय हो, पास ही बैठ गया। अन्धकार ने चारों ओर से उन्हें घेर लिया।

सहसा बालिका ने चौंक कर कहा—पिता जी, देखो घोड़ों की टाप का शब्द सुनाई दे रहा है! बुड्ढे ने उठ कर दूर तक दृष्टि करके देखा। सड़क के निकट एक घना सेमल का वृक्ष था, जिसके नीचे घोर अन्धकार था। वृद्ध कन्या का हाथ पकड़, वहीं जा छिपा। आकाश में अब भी बादल घिर रहे थे और फिर जोर की वर्षा होने के रङ्ग-

ढङ्ग दीख पड़ते थे। बीच-बीच में बिजली भी चमक जाती थी। थोड़ी देर बाद बहुत से सवार वहाँ तक आ पहुँचे। वर्षा भी शुरू हो गई। सवारों ने निश्चय किया कि उस वृक्ष के नीचे आश्रय लें।

वृद्ध भय से बालिका को छाती में छिपाए वृक्ष की जड़ में चिपक कर बैठ गया। सहसा बिजली की चमक में अश्वारोहियों ने वृक्ष के निकट मनुष्य-मूर्ति देख कर कहा—अरे! वृक्ष के निकट यह कौन है? वृद्ध वहाँ से हट कर चुपचाप खेत में जाने लगा। तत्क्षण एक बर्छा आकर उसकी छाती को विदीर्ण कर गया। वृद्ध एक चीत्कार करके धरती पर गिर गया। बालिका ज़ोर से चिल्ला उठी।

अश्वारोही दल ने निकट जाकर देखा—मृत पुरुष वृद्ध और निरस्त्र है। पर कन्या को देखते ही बर्छा फेंकने वाले सवार ने कहा—वाह! बूढ़े को मार कर रत्न मिला! इसमें किसी का साझा नहीं है?

बालिका भय और शोक से चिल्ला उठी। अश्वारोही ने उसकी परवा न कर, उसे उठा कर घोड़े पर रख लिया और वे आगे बढ़े।

५

वैभवशालिनी वैशाली का जो 'श्रेष्टि चत्वर' नामक बाज़ार था, उसके उत्तर कोण पर एक विशाल प्रासाद था,

जिसके गुम्बजों का प्रकाश रात्रि को गङ्गा-पार से भी दीखता था। बाहर का सिंहद्वार विशाल पत्थरों का बनाया गया था, जिसे उठाना और जोड़ना दैत्यों का ही काम हो सकता था। इन पत्थरों पर स्वपत्यकला और शिल्प की सूक्ष्म बुद्धि खर्च की गई थी। ड्योढ़ी पर गहरा हरा रङ्ग किया हुआ था और ऊँचे महराबदार फाटक पर फूलों की गुँथी हुई सुन्दर मालाएँ लटक रही थीं। पहले आँगन में प्रवेश करने पर श्वेत अट्टालिकाओं की पंक्ति दीख पड़ती थी। उनकी दीवारों पर काँच की तरह चमकदार श्वेत पलस्तर किया गया था। सीढ़ियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के खुदरङ्ग बहुमूल्य पत्थर लगे थे, और खिड़कियों में बिल्लौर के किवाड़ थे, जिनमें श्रेष्टि चत्वर की बहार बैठे ही बैठे दीख पड़ती थी। दूसरे आँगन में गाड़ी, बैल, घोड़े, हाथी बँधे थे और महावत उन्हें चावल-घी खिला रहे थे। तीसरे आँगन में अतिथि-शाला तथा आगत जनों के ठहरने का प्रबन्ध था। यहाँ बहुत सुन्दर विशाल पत्थरों के खम्भों पर महराब खड़े हुए थे। चौथे आँगन में नाट्यशाला और गायन-भवन था, पाँचवें आँगन में भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पकार और जौहरी लोग नाना प्रकार के आभूषण बना और रत्नों को घिस रहे थे। छठवें आँगन में भिन्न-भिन्न देश के पशु-पक्षियों का अद्भुत संग्रह था। सातवाँ आँगन बिलकुल श्वेत पत्थर का बना था, और उसमें सुनहरा काम हो रहा था। इसमें दो भीम-

काय सिंह स्वर्ण की मेखलाओं में दृढ़तापूर्वक बँधे थे और चाँदी के पात्रों में पानी भरा उनके निकट धरा था। गृह-स्वामिनी अम्बपालिका इसी कक्ष में विराजती थी।

सन्ध्या हो गई थी। परिचारक और परिचारिकाएँ दौड़-धूप कर रही थीं, कोई सुगन्धित जल आँगन में छिड़क रही थी, कोई धूप जला कर भवन को सुवासित कर रही थी, कोई सहस्र दीप-गुच्छ में सुगन्धित तेल डाल कर प्रकाशित करने में व्यस्त थी। बहुत से माली तोरण और अलिन्द पर ताज़े पुष्पों के गुलदस्ते और मालाओं को सजा रहे थे। अलिन्द में दण्डधर अपने-अपने स्थानों पर भाला टेके स्थिर भाव से खड़े थे। द्वारपाल तोरण पर अपने द्वार-रक्षक दल के साथ सशस्त्र उपस्थित था।

क्षण भर बाद प्रासाद भाँति-भाँति के रङ्गीन प्रकाश से जगमगा उठा। भाँति-भाँति के रङ्गीन फ़व्वारे चलने लगे और उन पर प्रकाश का प्रतिविम्ब इन्द्र-धनुष की बहार दिखाने लगा। धीरे-धीरे प्रतिष्ठित नागरिक कोई पालकी में, कोई रथ पर और कोई हाथी पर चढ़ कर प्रथम तोरण पार कर आने लगे। परिचारक-गण दौड़-दौड़ कर अतिथियों को सादर उतार कर भीतरी अलिन्द में पहुँचाने तथा उनकी सवारियों की व्यवस्था करने लगे। हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि वाहनों का ताँता लग गया। उनकी भीड़ से बाहर का विशाल प्राङ्गण भर गया।

सातवें तोरण के भीतर श्वेत पत्थर के एक विशाल सभा-भवन में अम्बपालिका नागरिक युवकों की अभ्यर्थना कर रही थी। यह भवन एक टुकड़े के ६४ हरे रङ्ग के पत्थर के खम्भों पर निर्मित हुआ था, और इस पर रङ्गीन रत्नों को जड़ कर फूल-पत्ती, पक्षी तथा वन के दृश्य बनाए गए थे। छत पर स्वर्ण का पत्तर मढ़ा था, जहाँ पर बारीक खुदाई और रङ्गीन मीना का काम हो रहा था। इस विशाल भवन में दुग्ध-फेन के समान उज्ज्वल वर्ण का अति मुलायम और बहुमूल्य बिछावन बिछा था। थोड़े-थोड़े अन्तर से बहुत सी वेदियाँ पृथक्-पृथक् बनी थीं, जहाँ कोमल उपाधान, मद्य के स्वर्ण-पात्र और प्यालियाँ, जुआ खेलने के पासे, तथा अन्य विनोद-सामग्री, भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रन्थ, बहुमूल्य चित्र तथा अन्य बहुत सी मनोरञ्जन की सामग्री थी।

महा प्रतिहार अलिन्द तक अतिथि-युवकों को लाता, वहाँ से प्रधान परिचारिका उसे कक्ष तक ले आती। कक्ष-द्वार पर स्वयं अम्बपालिका साक्षात् रति के समान आगत जनों का हाथ पकड़ कर स्वागत करती, एक वेदी पर ले जाकर बैठाती, सुगन्ध और पुष्प-मालाओं से सत्कार करती तथा अपने हाथ से मद्य ढाल कर पिलाती थी। उस स्वर्ग-सदन में, उस रूप-यौवन और जीवन के आलोक में, अर्द्ध रात्रि तक नित्य ही माधुर्य और आनन्द का प्रवाह बहता

था। सैकड़ों दासियाँ दौड़-धूप करके याचित वस्तु तत्काल जुटा देतीं। फिर कुछ ठहर कर सङ्गीत-लहरी उठती। कोमल तन्तु-वाद्य गम्भीर मृदङ्ग के साथ वैशाली के श्रेष्ठ पुत्रों, राजवर्गियों और कुमारों के हृदयों को मसोस डालता था। वाद्य की ताल पर मोम की पुतली के समान कुमारियाँ मधुर स्वर में स्वर-ताल और मूर्च्छनामय सङ्गीत गान करतीं, और नर्तकियाँ ठुमक कर नाचती थीं। उस स्वप्न-सौन्दर्य के दृश्य को युवक सुगन्धित मद्य के घूँट के साथ पीकर अपने जन्म को धन्य मानते थे।

अम्बपालिका अब २० वर्ष की पूर्ण युवती थी। उसका यौवन और सौन्दर्य मध्याकाश में था। और लिच्छविगण तन्म के राजा ही नहीं, मगध, कोशल और विदेश के महाराजा तक उसके लिए सदैव अभिलाषी बने रहते थे। इन सभी महानृपतियों की ओर से रत्न, वस्त्र, हाथी आदि भेंट में आते रहते थे और अम्बपालिका अपनी कृपा और प्रेम के चिन्ह-स्वरूप कभी-कभी ताजे फूलों की एकाध माला तथा कुछ गन्ध द्रव्य उन्हें प्रदान कर दिया करती थी।

विधाता ने मानों उसे स्वर्ण से बनाया था। उसका रङ्ग गोरा ही न था, उस पर सुनहरी प्रभा थी—जैसी चम्पे की अविकसित कली में होती है। उसके शरीर की लचक, अङ्गों की सुडौलता वर्णन से बाहर की बात थी। उस

सौन्दर्य में विशेषता यह थी कि समय का अत्याचार भी उस सौन्दर्य को नष्ट न कर सकता था। जैसे मोती का पर्त उतार देने से भीतर से नई आभा, नया पानी दमकने लगता है, उसी प्रकार अम्बपालिका का शरीर प्रति वर्ष निखार पाता था। उसका क़द कुछ लम्बा, देह मांसल और कुच पीन थे। तिस पर उसकी कमर इतनी पतली थी कि उसे कटिबन्धन बाँधने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चैतन्य थे, मानों प्रकृति ने उन्हें नृत्य करने और आनन्द भोग करने को बनाया था।

उसके नेत्रों में सूक्ष्म लालसा की झलक और दृष्टि में ग़ज़ब की मदिरा भर रही थी। उसका स्वभाव सतेज था। चितवन में दृढ़ता, निर्भीकता, विनोद और स्वेच्छाचारिता साफ़ झलकती थी। उसे देखते ही आमोद-प्रमोद की अभिलाषा प्रत्येक पुरुष के हृदय में उत्पन्न हो जाती थी।

जैसा कहा जा चुका है, उसको रङ्गत पर एक सुनहरी झलक थी। गाल कोमल और गुलाबी थे। ओठ लाल और उत्फुल्ल थे। मानों कोई पका हुआ रसीला फल चमक रहा हो। उसके दाँत हीरे की तरह स्वच्छ, चमकदार और अनार की पंक्ति की तरह सुडौल, कुच पीन तथा अनीदार थे। नाक पतली, गर्दन हंस-जैसी, कन्धे सुडौल, बाहु मृणाल-जैसी थी। सिर के बाल काले, लम्बे और घुँघराले तथा रेशम से भी मुलायम थे। आँखें काली और कटीली,

उँगलियाँ पतली और मुलायम थीं। उन पर उसके गुलाबी नाख़ूनों की बड़ी बहार थी। पैर छोटे और सुन्दर थे। जब वह ठसक के साथ उठ कर खड़ी हो जाती, तो लोग उसे एकटक देखते रह जाते थे। उसकी भुजाओं और देह का पूर्व भाग सदा खुला रहता था।

६

वैशाली में बड़ी भारी बेचैनी फैल गई। अश्वारोही दल के दल नगर के तोरण से होकर नगर से बाहर निकल रहे थे। प्रतीहार लोग और किसी को न बाहर निकलने देते थे और न भीतर घुसने देते थे। तोरण के इधर-उधर बहुत से नागरिक सेना का यह अकस्मात् प्रस्थान देख रहे थे। एक पुरुष ने पूछा—'क्यों भाई, जानते हो यह सेना कहाँ जा रही है ?' उसने कहा—'न, यह कोई नहीं जानता।' अश्वारोही दल निकल गया—पीछे कई सेनानायक धीरे-धीरे परामर्श करते चले गए।

× × ×

क्षण भर में सम्वाद फैल गया। मगध के प्रतापी सम्राट् शिशुनागवंशी विम्बसार ने वैशाली पर चढ़ाई की। गङ्गा के दक्षिण छोर पर दुर्जय मागध सेना दृष्टि के उस छोर से इस छोर तक फैली हुई थी। इस सेना में १० हज़ार हाथी, ५० हज़ार अश्वारोही और पाँच लाख पैदल थे।

वैशाली के लिच्चविगण तन्म का प्रताप भी साधारण न था। गङ्गा के उत्तर कोण पर देखते-देखते सैन्य-समूह एकत्रित हो गया। लिच्चवियों के पास ८ हज़ार हाथी, १ लाख अश्वारोही और ६ लाख पैदल थे।

तीन दिन तक दोनों दल आमने-सामने डटे रहे। तीसरे दिन लिच्चवि लोगों ने देखा, उस पार डेरों की संख्या कम हो गई है। निपुण सैनिक सहस्रों घाट से पार आने की तैयारी कर रहे हैं, यह समझने में देर न लगी। दोपहर होते-होते मागध सेना गङ्गा पार करने लगी। लिच्चवि-सेना चुपचाप खड़ी रही। ज्योंही कुछ सेना ने भूमि पर पैर रक्खा, त्योंही वैशाली की सेना जय-जयकार करते बढ़ चली, मानों सहस्र उल्कापात हुए हों। मेघ-सङ्घर्षण की तरह घोर गर्जना करके दोनों सेनाएँ भिड़ गईं। मागध सेना की गति रुक गई। बाण, बर्छे और तलवारों की प्रलय मच गई। उस दिन, दिन भर संग्राम रहा। सूर्यास्त देख, दोनों सेना पीछे को फिरीं।

× × ×

२ मास से नगर का घेरा जारी है। बीच-बीच में युद्ध हो जाता है। कोई पक्ष निर्बल नहीं होता। नगर की तीन दिशाएँ मागध-शिविर से घिरी हैं। बीच में जो सबसे बड़ा डेरा है, उसके ऊपर सोने का गरुड़ध्वज अस्त होते सूर्य की किरणों से अग्नि की तरह दमक रहा है। उसके आगे एक

स्वर्ण-पीठ पर गौर वर्ण सम्राट् विराजमान हैं। निकट एक-दो विश्वासी पार्श्वद हैं। सम्राट् अति सुन्दर, बलिष्ठ और गम्भीर मूर्त्ति हैं। नेत्रों में तेज और स्नेह, दृष्टि में वीरत्व और औदार्य तथा प्रतिभा में अदम्य तेज प्रकट हो रहा है। सम्राट् आधे लेटे हुए कुछ मन्त्रणा कर रहे हैं। एक कर्णिक नीचे बैठा उनके आदेशानुसार लिखता जाता है। एक दण्डधर ने आगे बढ़ कर पुकार कर कहा—महानायक युवराज भट्टारक पादीय गोपालदेव तोरण पर उपस्थित हैं। सम्राट् ने चौंक कर उधर देखा और भीतर बुलाने का सङ्केत किया। साथ ही कर्णिक और मन्त्री को विदा किया।

गोपालदेव ने तलवार म्यान से खींच शीश से लगाई और फिर विनम्र निवेदन किया—'महाराजाधिराज की आज्ञानुसार सब व्यवस्था ठीक है। देवश्री पधारने का कष्ट करें।' सम्राट् के नेत्रों में उत्फुल्लता उत्पन्न हुई। वे उठ कर वस्त्र पहनने के लिए पट-मण्डप में घुस गए।

७

वैशाली के राजपथ जनशून्य थे। दो प्रहर रात्रि जा चुकी थी। युद्ध के आतङ्क ने नगर के उल्लास को मूर्च्छित कर दिया था। कहीं-कहीं प्रहरी खड़े उस अन्धकारमयी रात्रि में भयानक भूत-से प्रतीत होते थे। धीरे-धीरे दो मनुष्य-मूर्तियाँ अन्धकार को भेदन करती हुई वैशाली के

गुप्त द्वार के निकट पहुँचीं। एक ने द्वार पर आघात किया, भीतर प्रश्न हुआ—सङ्केत ?

मनुष्य-मूर्ति ने कहा—अभिनय ?

हलकी चीत्कार करके द्वार खुल गया, दोनों मूर्तियाँ भीतर घुस कर राजपथ छोड़, अँधेरी गलियों में अट्टालिकाओं की परछाईं में छिपती-छिपती आगे बढ़ने लगीं। एक स्थान पर प्रहरी ने बाधा देकर पूछा—'कौन ?' एक व्यक्ति ने कहा—'आगे बढ़ कर देखो।' प्रहरी निकट आया। हठात् दूसरे व्यक्ति ने उसका सिर धड़ से जुदा कर दिया। दोनों फिर आगे बढ़े। अम्बपालिका के द्वार पर अन्ततः उनकी यात्रा समाप्त हुई। द्वार पर एक प्रतीहार मानों उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। सङ्केत करते ही उसने द्वार खोल दिया और आगन्तुकगण को भीतर लेकर द्वार बन्द कर लिया।

आज इस विशाल राजमहल सदृश भवन में सन्नाटा था। न रङ्ग-विरङ्गी रोशनी, न फ़व्वारे, न दास-दासी गणों की दौड़-धूप। दोनों व्यक्ति चुपचाप प्रतीहार के साथ जा रहे थे। सातवें अलिन्द को पार करने पर देखा, एक और काली मूर्ति एक खम्भे के सहारे खड़ी है। उसने आगे बढ़ कर कहा—'इधर से पधारिए श्रीमान् !" प्रतिहार वहीं रुक गया। नवीन व्यक्ति स्त्री थी और वह सर्वाङ्ग काले वस्त्र से ढाँपे हुए थी। दोनों आगन्तुक कई प्राङ्गण और अलिन्द

पार करते हुए कुछ सीढ़ियाँ उतर कर एक छोटे से द्वार पर पहुँचे, जो चाँदी का था और जिस पर अतिशय मनोहर जाली का काम हो रहा था और उसी जाली में से छन-छन कर रङ्गीन प्रकाश बाहर पड़ रहा था।

द्वार खोलते ही देखा, एक बहुत बड़ा कक्ष भिन्न-भिन्न प्रकार की सुख-सामग्रियों से परिपूर्ण था। यद्यपि उतना बड़ा नहीं, जहाँ नागरिक जनों का प्रायः स्वागत होता था, परन्तु सजावट की दृष्टि से इस कक्ष के सम्मुख उसकी गणना नहीं हो सकती थी। यह समस्त भवन श्वेत और काले पत्थरों से बना था। और सर्वत्र ही सुनहरी पच्चीकारी का काम हो रहा था। उसमें बड़े-बड़े बिल्लौर के अठपहलू अमूल्य खम्भे लगे थे, जिनमें मनुष्य का हूबहू प्रतिविम्ब सहस्रों की संख्याओं में दीखता था। बड़े-बड़े और भिन्न-भिन्न भावपूर्ण चित्र टँगे थे। सहस्रों दीप-गुच्छों में सुगन्धित तेल जल रहा था। समस्त कक्ष भीनी सुगन्ध से महक रहा था। धरती पर एक महा मूल्यवान् रङ्गीन बिछावन था, जिस पर पैर पड़ते ही हाथ भर धँस जाता था। ठीक बीचोबीच एक विचित्र आकृति की सोलह-पहलू सोने की चौकी पड़ी थी, जिस पर मोर-पङ्ख के खम्भों पर मोतियों की झालर लगा एक चन्दोवा तन रहा था। और पीछे रङ्गीन रेशम के परदे लटक रहे थे, जिनमें ताज़े पुष्पों का शृङ्गार बड़ी सुघड़ाई से किया गया था। निकट ही एक

छोटी सी रत्न-जटित तिपाई पर मद्य-पात्र और पन्ने का एक बड़ा सा पान-पात्र धरा हुआ था।

हठात् सामने का परदा उठा और उसमें से वह रूप-राशि प्रकट हुई, जिनके बिना अलिन्द शून्य हो रहा था। उसे देखते ही आगन्तुकगण में से एक तो धीरे-धीरे पीछे हट कर कक्ष से बाहर हो गया, दूसरा व्यक्ति स्तम्भित-सा खड़ा रहा। अम्बपालिका आगे बढ़ी। वह बहुत महीन श्वेत रेशम की पोशाक पहने हुए थी। वह इतनी बारीक थी कि उसके आर-पार साफ़ दीख पड़ता था। उसमें से छन कर उसके सुनहरे शरीर की रङ्गत अपूर्व छटा दिखा रही थी। पर यह रङ्ग कमर ही तक था। वह चोली या कोई दूसरा वस्त्र नहीं पहने थी। इसलिए उसकी कमर के ऊपर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग साफ़ दीख पड़ते थे।

विधाता ने उसे किस क्षण में गढ़ा था! हमारी तो यह धारणा है कि कोई चित्रकार न तो वैसा चित्र ही अङ्कित कर सकता था और न कोई मूर्तिकार वैसी मूर्ति ही बना सकता था।

उस भुवन-मोहिनी की वह छटा आगन्तुक के हृदय को छेद कर पार हो गई। गहरे काले रङ्ग के बाल उसके उज्ज्वल और स्निग्ध कन्धों पर लहरा रहे थे। स्फटिक के समान चिकने मस्तक पर मोतियों का गुँथा हुआ आभूषण अपूर्व शोभा दिखा रहा था। उसकी काली और

कटीली आँखें, तोते के समान नुकीली नाक, बिम्ब-फल जैसे अधर-ओष्ठ और अनार-दाने के समान उज्ज्वल दाँत, गोरा और गोल चिबुक बिना ही शृङ्गार के अनुराग और आनन्द बिखेर रहा था। अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की वह वैशाली की वेश्या ऐसी ही थी।

मोती की कोर लगी हुई सुन्दर ओढ़नी पीछे की ओर लटक रही थी और इसलिए उसका उन्मत्त कर देने वाला मुख साफ़ देखा जा सकता था। वह अपनी पतली कमर में एक ढीला सा बहुमूल्य रङ्गीन शाल लपेटे हुए थी। हंस के समान उज्ज्वल गर्दन में अङ्गूर के बराबर मोतियों की माला लटक रही थी और गोरी-गोरी गोल कलाइयों में नीलम की पहुँची पड़ी हुई थी।

उस मकड़ी के जाले के समान बारीक उज्ज्वल परिधान के नीचे, सुनहरे तारों की बुनावट का एक अद्भुत घाँघरा था, जो उस प्रकाश में बिजली की तरह चमक रहा था। पैरों में छोटी-छोटी लाल रङ्ग की उपानत थीं, जो सुनहरी फ़ीते से कस रही थीं।

उस समय कक्ष में गुलाबी रङ्ग का प्रकाश हो रहा था। उस प्रकाश में अम्बपालिका का मानों परदा चीर कर इस रूप-रङ्ग में प्रकट होना आगन्तुक व्यक्ति को मूर्तिमती मदिरा का अवतरण-सा प्रतीत हुआ। वह अभी तक स्तब्ध खड़ा था। धीरे-धीरे अम्बपालिका आगे बढ़ी। उसके पीछे

१६ दासियाँ एक ही रूप और रङ्ग की, मानों पाषाण-प्रतिमाएँ ही आगे बढ़ रही थीं।

अम्बपालिका धीरे-धीरे आगे बढ़कर आगन्तुक के निकट आकर झुकी और फिर घुटने के बल बैठ, उसने कहा—'परमेश्वर, परम वैष्णव, परम भट्टारक महाराजाधिराज की जय हो!' इसके बाद उसने सम्राट के चरणों में प्रणाम करने को सिर झुका दिया। दासियाँ भी पृथ्वी पर झुक गईं।

आगन्तुक महाप्रतापी मगध-सम्राट विम्बसार थे। उन्होंने हाथ बढ़ा कर अम्बपालिका को ऊपर उठाया। अम्बपालिका ने निवेदन किया—महाराजाधिराज पीठ पर विराजें। सम्राट ने ऊपर का परिच्छद उतार फेंका, वे पीठ पर विराजमान हुए।

अम्बपालिका ने नीचे धरती में बैठ कर सम्राट का गन्ध, पुष्प आदि से सत्कार किया। इसके बाद उसने अपनी मद-भरी आँखें सम्राट् पर डाल कर कहा—महाराजाधिराज ने बड़ी अनुकम्पा की, बड़ा कष्ट किया।

सम्राट् ने किञ्चित् मोहक स्वर में कहा—अम्बपाली! यदि मैं यह कहूँ कि केवल विनोद के लिए आया हूँ, तो यह यथार्थ बात नहीं। मैं तुम्हारे रूप-गुण की प्रशंसा सुन कर स्थिर नहीं रह सका, और इस कठिन युद्ध में व्यस्त रहने पर भी तुम्हें देखने के लिए शत्रुपुरी में घुस आया, परन्तु तुम्हारा प्रबन्ध धन्य है।

अम्बपालिका लज्जित-सी होकर तथा ज़रा मुस्करा कर बोली—मैं पहले ही सुन चुकी हूँ कि देव स्त्रियों की चाटु-कारी में बड़े प्रवीण हैं।

सम्राट्—चाटुकारी नहीं, अम्बपालिके ! तुम वास्तव में रूप और गुण में अद्वितीय हो।

अम्बपालिका—श्रीमान्, मैं कृतार्थ हुई ! इसके बाद वह अपने मुक्ता-विनिन्दित दाँतों की छटा दिखाते हुए सम्राट् की सेवा में खड़ी हुई। सम्राट् ने प्याला ले और उसे खींच कर बग़ल में बैठा लिया। सङ्केत पाते ही दासियों ने क्षण-भर में गायन-वाद्य का सरञ्जाम जुटा दिया। कक्ष सङ्गीत-लहरी में डूब गया और उस गम्भीर निस्तब्ध रात्रि में मगध के प्रतापी सम्राट् उस एक वेश्या पर अपने साम्राज्य को भूल बैठे !

८

एक वर्ष बीत गया। प्रतापी लिच्छवि-राज मगध-साम्राज्य के आगे नत-मस्तक करने को बाध्य हुए। अब वैशाली में वह उमङ्ग न थी। अम्बपालिका का द्वार सदैव बन्द रहता था। द्वार पर कड़ा पहरा था। कोई व्यक्ति न उसे देख सकता था, न उससे मिल सकता था। उसके बहुत से युवक मित्र उस युद्ध में निहत हुए थे। पर जो बच रहे थे, वे अम्बपाली के इस परिवर्त्तन पर आश्चर्यान्वित थे। वे किसी भी तरह उसका साक्षात् न कर सकते थे। दूर-दूर तक यह बात फैल गई थी।

अम्बपालिका के सहस्रावधि वेतन-भोगी दास-दासी, सैनिक और अनुचरों में से भी केवल दो व्यक्ति थे, जो अम्बपाली को देख सकते और उससे बात कर सकते थे। एक प्रधान परिचारिक यूथिका, दूसरा एक वृद्ध दण्डधर, जिसे भीतर-बाहर सर्वत्र आने की स्वतन्त्रता थी। सम्राट् का आगमन केवल इन्हीं दोनों को मालूम था और ये दोनों ही यह रहस्य भी जानते थे कि अम्बपालिका को सम्राट् से गर्भ है।

यथासमय पुत्र प्रसव हुआ। यह रहस्य भी केवल इन्हीं दो व्यक्तियों पर ही प्रकट हुआ। और वह पुत्र उसी दण्डधर ने गुप्त-रूप से राजधानी में जाकर मगध-सम्राट् की गोद में डाल कर, अम्बपालिका का अनुरोध सुना कर कहा—महाराजाधिराज की सेवा में मेरी स्वामिनी ने निवेदन किया है कि उनकी तुच्छ भेंट-स्वरूप मगध के भावी सम्राट् आपके चरणों में समर्पित हैं। सम्राट् ने शिशु को सिंहासन पर डाल कर वृद्ध दण्डधर से उत्फुल्ल नयन से कहा—'मगध के भावी सम्राट् को झटपट अभिवादन करो।' दण्डधर ने कोश से तलवार निकाल, मस्तक पर लगाई और तीन बार जयघोष करके तलवार शिशु के चरणों में रख दी। सम्राट् ने तलवार उठा कर वृद्ध की कमर में बाँधते-बाँधते कहा—अपनी स्वामिनी को मेरी यह तुच्छ भेंट देना। यह कह कर उन्होंने एक वस्तु वृद्ध

के हाथ में चुपचाप दे दी। वह वस्तु क्या थी, यह ज्ञात होने का कोई उपाय नहीं।

९

भगवत् बुद्ध वैशाली में पधारे हैं और अम्बपालिका की बाड़ी में ठहरे हैं। आज हठात् अम्बपालिका के महल में हलचल मच रही है। सभी दास-दासी, प्रतिहार, द्वारपाल दौड़-धूप कर रहे हैं। हाथी, घोड़े, पालकी, रथ सज रहे हैं। सवार शस्त्र-सज्जित हो रहे हैं। अम्बपालिका भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ बाड़ी में जा रही है। एक वर्ष बाद आज वह फिर सर्व-साधारण के सम्मुख निकल रही है। समस्त वैशाली में यह समाचार फैल गया है। लोग झुण्ड के झुण्ड उसे देखने राजमार्ग पर डट गए हैं। अम्बपालिका एक श्वेत हाथी पर सवार होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है। दासियों का पैदल झुण्ड उसके पीछे है, उसके पीछे अश्वारोही दल है और उसके बाद हाथियों पर भगवान् की पूजा-सामग्री। सबके पीछे बहुत से वाहन, कर्मचारी और पौरगण।

अम्बपालिका एक साधारण पीत-वर्ण परिधान धारण किए अधोमुख बैठी है। एक भी आभूषण उसके शरीर पर नहीं है। बाड़ी से कुछ दूर ही उसने सवारी रोकने की आज्ञा दी। वह पैदल भगवान के निवास तक पहुँची, पीछे १०० दासियों के हाथ में पूजन-सामग्री थी।

तथागत बुद्ध की अवस्था ८० को पार कर गई थी। एक गौर-वर्ण, दीर्घकाय, श्वेत-केश, कृश, किन्तु बलिष्ठ महापुरुष पद्मासन से शान्त मुद्रा में एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। सहस्रावधि शिष्यगण दूर तक मुण्डित शिर और पीत वस्त्र धारण किए स्तब्ध से श्रीमुख के प्रत्येक शब्द को हृत्पटल पर लिख रहे थे। आनन्द नामक शिष्य ने निवेदन किया—'प्रभु! अम्बपालिका दर्शनार्थ आई है।' तथागत ने किञ्चित हास्य से अपने करुण नेत्र ऊपर उठाए। अम्बपालिका धरती में लोट कर कहने लगी—'प्रभो! त्राहिमाम्! त्राहिमाम्!'

भगवत् ने कहा—'कल्याण! कल्याण!' आनन्द ने कहा—'उठो अम्बपाली! महाप्रभु प्रसन्न हैं।' अम्बपाली ने यथाविधि भगवत् का अर्घ्यदान, पाद्य मधुपर्क से पूजन किया और चरण-रज नेत्रों में लगाई, फिर हाथ बाँध कर सम्मुख खड़ी हो गई।

भगवत् ने हँस कर कहा—अब और क्या चाहिए अम्बपाली?

"प्रभो! भगवन्! इस अपदार्थ का आतिथ्य स्वीकार हो, इन चरण-कमलों की देवदुर्लभ रजकण किङ्करी की कुटिया को प्रदान हो।

प्रभु ने करुण स्वर में कहा—तथास्तु! भिक्षुगण सहस्र कण्ठ से जयोल्लास में चिल्ला उठे। परन्तु यह क्या? उस

नाद को विदीर्ण करता हुआ एक और नाद उठा। भगवत् ने पूछा—आनन्द! यह क्या है? "प्रभो! लिच्छविराजवर्ग और अमात्यवर्ग श्रीपादपद्म के दर्शनार्थ आ रहा है।" प्रभु हँस पड़े। अम्बपालिका हट गई। प्रतापी लिच्छवि-राजागण, राजकुमार, अमात्यवर्ग और अन्तःपुर ने एक साथ ही भगवत् के चरणों में महान् मस्तक झुका दिए! भगवत् ने कहा—'कल्याण! कल्याण!!'

महाराज ने पद-धूलि मुकुट पर लगा कर कहा—महा-प्रभु! यह तुच्छ राजधानी इन चरणों के पधारने से कृतकृत्य हुई। परन्तु प्रभो! यह वेश्या की बाड़ी है, श्रीचरणों के योग्य नहीं। प्रभु के लिए राजप्रासाद प्रस्तुत है और राजवंश प्रभु-पद-सेवा को बहुत उत्सुक है। भगवत् ने हँस कर कहा—'तथागत के लिए वेश्या और राजा में क्या अन्तर है? तथागत समदृष्टि है।'

"प्रभो! तब कल का आतिथ्य राज-परिवार को प्रदान कर कृतार्थ करें।"

"वह तो मैं अम्बपाली का स्वीकार कर चुका!"

राजा निरुत्तर हुए। वे फिर प्रणाम कर लौटे। कुछ श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कुछ लाल और कुछ आभूषण पहने थे।

अम्बपालिका रथ में बैठ कर लौटी। उसने आज्ञा दी, मेरा रथ लिच्छवि-महाराजों के बराबर हाँको। उनके पहिए

के बराबर मेरा पहिया और उनके धुरे के बराबर मेरा धुरा रहे, तथा उनके घोड़े के बराबर मेरा घोड़ा।

लिच्छवियों ने देख कर क्रोध-मिश्रित आश्चर्य से पूछा—अम्बपालिके, यह क्या बात है ? तू हम लोगों के बराबर अपना रथ हाँक रही है ?

उसने उत्तर दिया—मेरे प्रभु ! मैंने तथागत और उनके शिष्य-वर्ग को भोजन का निमन्त्रण दिया है और वह उन्होंने स्वीकार किया है।

उन्होंने कहा—हे अम्बपाली ! हमसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा ले और यह भोजन हमें कराने दे।

"मेरे प्रभु, यह सम्भव ही नहीं है !"

"तब १०० ग्राम ले ले और यह निमन्त्रण हमें बेच दे।"

"नहीं स्वामी ! कदापि नहीं।"

"आधा राज्य ले और यह निमन्त्रण हमें दे दे।"

"मेरे प्रभु ! आप एक तुच्छ भूखण्ड के स्वामी हैं, पर यदि समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती भी होते और अपना समस्त साम्राज्य मुझे देते, तो भी मैं ऐसी कीर्ति की जेवनार को नहीं बेच सकती थी।"

लिच्छवि राजाओं ने तब अपना हाथ पटक कर कहा—हाय ! अम्बपालिका ने हमें पराजित कर दिया, अम्बपालिका हमसे बढ़ गई। अम्बपालिके ! तब तुम स्वच्छन्दता

से हमसे आगे रथ हाँको। अम्बपालिका ने रथ बढ़ाया। गर्द का एक तूफान पीछे रह गया।

१०

दस सहस्र भिक्षुओं के साथ भगवान् बुद्ध ने अम्बपाली के प्रासाद को आलोकित किया। वैशाली के राजमार्ग में नगर के प्राण आ जूझे थे। महापुरुष बुद्ध और उनके वीतरागी भिक्षु भूमि पर दृष्टि दिए पैदल धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। नगर के श्रेष्ठिगण दूकानों से उठ-उठ कर मार्ग की भूमि को भगवान् के चरण रखने से पूर्व अपने उत्तरीय से झाड़ रहे थे। कोई नागरिक भीड़ से निकल कर पथ पर अपने बहुमूल्य शाल बिछा रहे थे। महाप्रभु बिना कुछ कहे एकरस धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। वह महान् संन्यासी, प्रबल वीतरागी, महाप्राण वृद्ध पुरुष, श्रेष्ठ जय-जयकार की प्रचण्ड घोषणा से ज़रा भी विचलित नहीं हो रहा था। उसकी दृष्टि मानों पृथ्वी में पाताल तक घुस गई थी। पौर स्त्रियाँ झरोखों से खील और पुष्प-वर्षा कर रही थीं। अम्बपालिका का तोरण आते ही चार दण्डधरों ने दौड़ कर पथ पर कौशेय बिछा दिया। द्वार में प्रवेश करने पर सर्वत्र कौशेय बिछा था। अनगिनत कर्मचारी भिक्षुगण के सम्मानार्थ दौड़ पड़े। पीतवसनधारी मुण्डित भिक्षु नक्षत्रों की तरह उस विशाल प्राङ्गण में, महा जनसमूह में चमक रहे थे।

अतिथिशाला में भगवत् के पहुँचते
२०० दासियों के साथ स्वयं आकर त
सिर झुकाया और वहाँ से वह अपने अन्त
झाड़तो हुई प्रभु को भीतरी अलिन्द तक ले
प्रभु के साथ केवल आनन्द चल रहे थे।

प्राङ्गण के मध्य में एक चन्दन की च
आसन बिछा था। अम्बपाली के अनुरोध
विराजमान हुए। अम्बपाली ने अर्घ्य-पाद्य
भोजन प्रस्तुत करने की आज्ञा माँगी। आज्ञा
अम्बपाली स्वयं स्वर्ण-थाल में भोजन ले आई
प्रकार के चावल और रोटियाँ थीं। अम्बपाली सेवा
बद्ध खड़ी रही। भगवान् ने मौन होकर भोजन किय
तृप्त होकर कहा—बस।

अम्बपाली के नेत्रों से अश्रुधारा बही। प्रभु ज्योंही शुद्ध होकर आसन पर विराजे, अम्बपाली ने पृथ्वी में गिर कर प्रणाम किया।

भगवत् ने कहा—अम्बपाली, अब और तेरी क्या इच्छा है ?

"प्रभु ! एक तुच्छ भिक्षा प्रदान हो ?"

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—वह क्या है ?

"प्रभो ! आज्ञा कीजिए, कोई भिक्षु अपना उत्तरीय प्रदान करे।" आनन्द ने उत्तरीय उतार कर अम्बपाली को

के लिए अम्बपाली भीतर गई। परन्तु
उसी वस्त्र से अङ्ग लपेटे आ रही थी।
प्रदान किए एकमात्र वस्त्र को छोड़ कर
और वस्त्र था न आभरण। उसके नेत्रों
ारा बह रही थी। भगवत् विमूढ़ हो उसका
थे। वह आकर भगवत् के सम्मुख फिर

शुभ हस्त से उसे स्पर्श करके कहा—उठो,
याणी! तुम्हारी इच्छा क्या है?
प्रभु! अपवित्र दासी की धृष्टता क्षमा हो, यह
-शरीर कलङ्कित करके मैं जीवित रहने पर बाधित
शुभ सङ्कल्प से मैं वञ्चित रही; प्रभो, यह समस्त
दा कलुषित तपश्चर्या का सञ्चय है। मैं कितनी
ाकुल, कितनी कुण्ठित, कितनी शून्य-हृदया रह कर अब तक जीवित रही हूँ, यह कैसे कहूँ। मेरे जीवन में दो ज्वलन्त दिन आए। प्रथम दिन के फल-स्वरूप मैं आज मगध के भावी सम्राट् की राजमाता हूँ, परन्तु भगवन्! आज के महान् पुण्य-योग के फल-स्वरूप अब मैं इससे भी उच्च पद प्राप्त करने की धृष्ट अभिलाषा करती हूँ। महाप्रभु प्रसन्न हों। जब भगवत् की चरण-रज से यह घर पवित्र हुआ, तब यहाँ विलाप और पाप कैसा? उसकी सामग्री ही क्यों, उसकी स्मृति ही क्यों?

इसलिए भगवत् के चरण-कमलों में यह सारी सम्पदा, महल, अटारी, धन, कोष, हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ, वस्त्र, भण्डार आदि सब समर्पित है। प्रभु ने भिक्षु का उत्तरीय मुझे भिक्षा दिया है, मेरे शरीर की लज्जा निवारण को यह बहुत है स्वामिन! आज से अम्बपाली भिक्षुणी हुई। अब यह इस भिक्षा में प्राप्त पवित्र वस्त्र को प्राण देकर भी सम्मानित करेगी। हे प्रभु! आज्ञा हो।

इतना कह कर अविरल अश्रुधारा से भगवत्-चरणों को धोती हुई, अम्बपालिका बुद्ध की चरण-रज नेत्रों से लगा कर उठी, और धीरे-धीरे महल से बाहर चली। महा वीतराग बुद्ध के नेत्र आप्यायित हुए। उन्होंने 'तथास्तु' कहा और खड़े होकर उसका सिर स्पर्श करके कहा—कल्याण! कल्याण!! सहस्र-सहस्र कण्ठ से 'जय अम्बपालिके, जय अम्बपालिके' का गगन-भेदी नाद उठा। सहस्रों नर-नारी पीछे चले। अम्बपाली उस पीत परिधान को धारण किए, नीचा सिर किए, पैदल उसी राजमार्ग से भूमि पर दृष्टि दिए धीरे-धीरे नगर से बाहर जा रही थी और उसके पीछे समस्त नगर उमड़ा जा रहा था। खिड़कियों से पौर वधुएँ पुष्प और खील-वर्षा कर रही थीं।

भगवत् ने कहा—हे आनन्द, यह स्थान बौद्ध भिक्षुओं का प्रथम विहार होगा। बौद्ध भिक्षु यहाँ रह कर सन्मार्ग का अन्वेषण करेंगे—यही तथागत की इच्छा है।

आनन्द ने शिर झुकाया। भिक्षु-मण्डल जय-नाद कर उठा। बुद्ध भगवान् धीरे-धीरे उठ कर नगर के राजमार्ग से होते हुए अम्बपालिका की बाड़ी में आकर अपने आसन पर विराजमान हुए। कुछ दूर एक वृक्ष की जड़ में अम्बपाली स्थिर बैठी थी। भगवान् को स्थित देख वह उठी और धीर-भाव से प्रभु के सम्मुख आकर खड़ी हुई। भगवत् ने उसकी ओर देखा। अम्बपाली ने विनयावनत होकर कहा—

"बुद्धं सरणं गच्छामि
धर्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि"

तथागत स्थिर हुए। उन्होंने तत्काल पवित्र जल उसके मस्तक पर सिञ्चन किया और पवित्र वाक्यों का उपदेश देकर कहा—भिक्षुओ! महा साध्वी अम्बपाली भिक्षुणी का स्वागत करो।

फिर जय-नाद से दिशाएँ गूँज उठीं और अम्बपाली, तथागत तथा अन्य वृद्ध भिक्षुगण को प्रणाम कर वहाँ से चल दी और फिर वैशाली के पुरुष उसे न देख सके !!

आचार्य उपगुप्त

आचार्य उपगुप्त

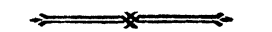

सन्ध्या हो चुकी थी, सूर्य अस्त हो गया था, पर पश्चिम दिशा में अभी लाल आभा बाक़ी थी। पूर्व-दक्षिण कोण से जो प्रधान राजमार्ग मथुरा को जाता है, उस पर तीन यात्री धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। यात्री बहुत दूर से आ रहे थे। और वे अत्यन्त क्लान्त और थकित थे। उनमें एक वृद्ध था, दो युवक। उन दोनों में भी एक अति किशोर-वयस्क सुकुमार बालक था, जिसकी आयु कठिनता से १४ वर्ष की होगी। मध्यवर्ती युवक ने वृद्ध को सम्बोधन करके पूछा—लल्ल! मथुरा तो आ गई, आशा है, अब विश्राम मिलेगा। परन्तु लल्ल! क्या तुम्हें आशा है कि श्रेष्ठिवर हमें आश्रय देंगे? वे हमें पहचान सकेंगे, और हमारा भेद गुप्त रख सकेंगे?

"अवश्य ही ऐसा होगा, श्रेष्ठि धनगुप्त महाराज के परम मित्र, अनुगृहीत और सेवक हैं।"

किशोर वयस्क बालक ने अतिशय क्लिन्त होकर कहा—महानायक! अब और कितना चलना पड़ेगा? मुझसे तो एक पग भी अब चलना कठिन है। देखो, मेरे पैर क्षत-विक्षत हो गए हैं।

लल्ल ने क्षण भर रुक कर, पीछे फिर कर बालक को देखा, उसके ओष्ठ कम्पित हुए और नेत्रों में एक कण अश्रुविन्दु आकर गिर गया। पर उसने किञ्चित् हँस कर कहा—अब तो आ गए, थोड़ा धैर्य और !

"अब और नहीं"—कह कर बालक वहीं सड़क पर बैठ गया। दूसरे युवक ने प्यार से उसका हाथ पकड़ कर कहा—यहाँ मार्ग में देर करने से क्या लाभ, सूर्य छिप गया है, कहीं द्वार बन्द हो गए तो बाहर ही रात काटनी होगी और वन्य-पशु फिर लल्ल को सोने न देंगे।

बालक फिर चला। लल्ल आगे बढ़ा। नगर के दक्षिण द्वार पर नगर-रक्षक रात्रि के लिए नवीन प्रहरियों की गिनती कर रहा था। तीनों यात्रियों ने चुपचाप द्वार में प्रवेश किया। किसी ने इन दीन यात्रियों की ओर ध्यान नहीं दिया। लल्ल ने विनीत भाव से युवक से कहा—यदि आज्ञा हो तो रात किसी अतिथिशाला में काट ली जाय, फिर प्रातःकाल श्रेष्ठिवर का घर ढूँढ़ लिया जायगा। अब इस समय कहाँ भटका जायगा। इतना कह कर उसने एक दृष्टि किशोर बालक पर फेंकी और युवक की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। युवक ने कहा—यही उचित है लल्ल ! चलो अतिथिशाला में ही रात्रि व्यतीत करें।

तीनों यात्री नगर के जन-पथ पर आगे बढ़े।

२

"श्रेष्ठिवर धनगुप्त का घर क्या यही है ?"

"यही है श्रीमान् ! आपका कहाँ से पधारना हुआ है ? आइए, भीतर आइए, घर को पवित्र कीजिए।"

लल्ल से जब एक परम सुन्दर युवक ने अति नम्रता-पूर्वक ये शब्द कहे, तब लल्ल आँखें फाड़-फाड़ कर उस युवक और सामने के एक साधारण घर को देखने लगे।

"अवश्य ही भ्रम हुआ है महोदय ! क्या आप महा-श्रेष्ठि धनगुप्त को जानते हैं ?"

"श्रीमान् ! यह दास उनका पुत्र है।"

"आप ? श्रेष्ठि धनगुप्त के पुत्र ? और यह उनका घर ? आपका शुभ-नाम ?"

"सेवक का नाम 'उपगुप्त' है"

"उपगुप्त, उपगुप्त ! ओह ! सचमुच आप×××परन्तु श्रेष्ठिवर कहाँ हैं ?"

"पूज्य पिता जी का स्वर्गवास हुए ८ वर्ष हो गए ?"

"स्वर्गवास ?"—लल्ल ने मुँह फैला दिया।

"श्रीमान् अवश्य ही पितृ-चरणों के बन्धु हैं। मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।"

"उपगुप्त श्रेष्ठिवर !"—इतना कह कर लल्ल ने युवक को दौड़ कर भुजा-पाश में बाँध लिया। कुछ ठहर कर लल्ल बोले—"समझा ! पिता के बाद लक्ष्मी ने भी उसके पुत्र को

त्याग दिया! वाह रे कराल काल! जिसके नव-व्यापार से समुद्र पटा रहता था, और यवन, चीन तक जिसकी हुण्डी चलती थी, उसका यह पुत्र नङ्गे पाँव खड़ा राजमार्ग पर अतिथि का सत्कार कर रहा है, और जहाँ द्वार पर सेना और हाथियों की पंक्ति रहती थी, वहाँ यह घर है!" यह कह कर लल्ल रोने लगे। एक बार उन्होंने फिर युवक को छाती से लगा लिया।

उपगुप्त ने धैर्य से पूछा—आर्य! परिचय देकर कृतार्थ करें। यह तो मैं समझ गया, आर्य पितृ-तुल्य पूज्य हैं, आज मेरा जन्म इन चरणों की सेवा से कृतार्थ होगा।

"श्रेष्ठिवर उपगुप्त! ईश्वर को धन्यवाद है कि श्रेष्ठिवर धनगुप्त का विनय, सौजन्य और अतिथि-सत्कार आप में अवशिष्ट है, जो श्रेष्ठिवर की सब सम्पत्तियों में अमूल्य थी, परन्तु अब परिचय की आवश्यकता नहीं, ईश्वर आपका कल्याण करें!"

इतना कह कर लल्ल चलने को तैयार हुए। उपगुप्त ने कातर स्वर से कहा—आर्य! क्या दरिद्रता के कारण दास को आप त्याग रहे हैं? यह न होगा। श्रीमान् यदि मेरा आतिथ्य न स्वीकार करेंगे, तो मैं प्राण त्याग दूँगा। आर्य, मैं कभी झूठ नहीं बोलता!

लल्ल क्षण भर स्तब्ध खड़े रहे। फिर उन्होंने कहा—श्रेष्ठिवर, मेरे साथ और भी दो व्यक्ति हैं, देखो वे सम्मुख खड़े हैं×××

"आह! आपने कहा नहीं×××"—यह कह कर उपगुप्त उधर दौड़े।

लल्ल ने रोक कर कहा—श्रेष्ठिवर, ठहरिए, निस्सन्देह हम लोग आपके पिता का आश्रय प्राप्त करने यहाँ आए थे। पर अब नहीं। श्रेष्ठिराज, हम लोग आपको विपत्ति और चिन्ता में नहीं डालेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करें।

"तब आर्य! मैं निश्चय प्राण-त्याग करूँगा।"

"नहीं महोदय! आपका इस अवस्था में आतिथ्य स्वीकार न करने के कारण हैं। आप हमारे कारण विपत्ति में पड़ सकते हैं।"

"परन्तु महोदय! मैं प्राण देकर भी हर्षित हूँगा। आर्य! आज तक मैं अपने दारिद्र्य के लिए लज्जित नहीं हुआ—क्या अब श्रीमान् मुझे लज्जित करेंगे?"

"नहीं-नहीं, श्रेष्ठिराज, बात कुछ और ही है। अच्छा, तब मैं स्वामी से आज्ञा ले लूँ!"

"मैं स्वयं ही उनके चरणों में प्रार्थना करूँगा!"—इतना कह कर उपगुप्त ने दूर खड़े दोनों युवकों के निकट जा, उनकी चरण-रज मस्तक पर लगाई।

लल्ल ने संक्षेप में सब कुछ कह कर घर में चलने का अनुरोध किया।

आसन देकर, सबके बैठने पर उपगुप्त ने कहा—आर्य! अब अपना और इन पूज्यों का परिचय देकर कृतार्थ करें।

"श्रेष्ठिवर, ये कलिङ्गराज-महिषीपट्ट महारानी चन्द्र-लेखा और ये महाराजकुमारी शीला हैं। मगध के प्रतापी सम्राट् चण्डाशोक ने कलिङ्ग का महाराज्य नष्ट कर डाला, एक लाख कलिङ्ग योद्धा रणभूमि में काम आए हैं—महाराज युद्धभूमि से लौटे नहीं, न उनका शरीर प्राप्त हुआ है। महाराजकुमार हरिद्वार में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में विद्याध्ययन कर रहे हैं। मैं महानायक भट्टारक पादीय लल्ल हूँ। राजपरिवार घोर विपत्ति में पड़ गया, तब इन महिलाओं को लेकर मैं आपके पिता के आश्रय की इच्छा से चल पड़ा। धनगुप्त श्रेष्ठिराज को छोड़ और कौन इन राज-अतिथियों को आश्रय दे सकता है? चण्डाशोक ने सर्वत्र चर छोड़े हैं। जो कोई राजपरिवार और कुमार जितेन्द्र को पकड़ा देगा, उसे दस सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दी जावेंगी। और जो कोई उस परिवार को आश्रय देगा, उसे प्राण-दण्ड होगा। श्रेष्ठिराज, इसीलिए हम लोग आपकी इस दुरवस्था में आपको विपत्ति में नहीं डालना चाहते थे।"

उपगुप्त ने सब सुन कर कहा—राजमाता और राज-पुत्री तथा आपके चरणों से यह घर पवित्र हुआ, अब आपकी सेवा से शरीर को धन्य करूँगा।

"परन्तु"—लल्ल ने कहा—"आप अपनी पत्नी तक से यह परिचय गुप्त रक्खेंगे और इनका पुरुष-परिचय ही देंगे।"

श्रेष्ठिवर ने स्वीकार किया।

३

अतिथियों के विश्राम की व्यवस्था करके उपगुप्त ने अपनी पत्नी से जाकर कहा—कुन्द! मेरे स्वर्गीय पिता के मित्र हमारे अतिथि हुए हैं, उनका आतिथ्य हमें जैसे बने, करना होगा।

कुन्द ने कुण्ठित होकर कहा—परन्तु स्वामिन्! घर में तो कुछ भी सामग्री नहीं है—अतिथि खायँगे क्या?

उपगुप्त चुपचाप पत्नी के मुँह की ओर देखने लगे। उन्होंने कहा—कुन्द! क्या किसी भी तरह तुम व्यवस्था नहीं कर सकतीं? क्या और कोई आभूषण है?

"नहीं!"

"तब कोई अनावश्यक पात्र बन्धक रख दिया जाय।"

"यही होगा और उपाय क्या है?"

उपगुप्त ने विकल होकर कहा—परन्तु कुन्द, तुम्हीं इसकी व्यवस्था कर देना, जिसमें हमारा नाम न प्रकट हो।

कुन्द ने कुछ कहने को मुख खोला ही था कि द्वार से कुछ मनुष्यों ने श्रेष्ठि को पुकारा। श्रेष्ठि ने बाहर आकर देखा, ८-१० राजकर्मचारी हैं और साथ में है ऋणदाता महाजन। उसने कर्कश स्वर में कहा—श्रेष्ठि उपगुप्त! हमारा चुकता-पावना अभी चुकाओ अथवा बन्दीगृह में जाओ।

श्रेष्ठिवर ने घबरा कर विनयपूर्वक कहा—मित्र ! आप तो जानते ही हैं, मैं इस समय कितने कष्ट में हूँ ; फिर आज अभी मेरे घर में पूज्य अतिथि आए हैं। श्रेष्ठिवर, कुछ और धैर्य धारण करो, वरना बड़ा अनर्थ हो जायगा।

ऋणदाता ने अवज्ञा से हँस कर कहा—मैं ऐसा मूर्ख नहीं। रक़म भी छोटी नहीं। अब और धैर्य किस आशा पर ? दस सहस्र अभी दो, अन्यथा ये कर्मचारी तुम्हें बन्दी कर लेंगे।

उपगुप्त ने विवश होकर कहा—तब मुझे कुछ क्षण का तो अवकाश दीजिए, मैं अपने अतिथियों और पत्नी की कुछ व्यवस्था कर दूँ।

प्रधान राजकर्मचारी ने आगे बढ़ कर कहा—महोदय ! इसके लिए हम लोग बाध्य नहीं। क्या आप कृपापूर्वक अभी वह धन देते हैं ?

"नहीं, धन अभी नहीं है !"

"तब सैनिको, इन्हें बाँध लो !"

क्षण भर में सैनिकों ने श्रेष्ठि को बाँध लिया। विवाद सुन कर लल्ल और राजकुमारी बाहर आ गए थे। कुन्द भी सब व्यापार देख रही थी। सभी विमूढ़वत् खड़े रहे। वे लोग श्रेष्ठिवर को बाँध ले चले। कुन्द पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ी।

राजकुमारी शीला ने दौड़ कर उसे उठाया और फिर लल्ल को बुला कर धीरे से कहा—महानायक ! इस विपन्ना-

वस्था में हमें श्रेष्ठि और उनकी पत्नी की पूर्ण शुश्रूषा करनी होगी। कुन्द को शय्या पर सुला कर राजकुमारी लल से कुछ परामर्श करने लगी। कुमारी की बात सुन कर लल ने चौंक कर कहा—यह तो अत्यन्त भयानक है।

"चाहे जो कुछ भी हो।"

"नहीं; कुमारी! ऐसा न होने पाएगा।"

"यही होगा महानायक।"

"कुमारी, सोच लो, राजमाता इसे कदापि न स्वीकार करेंगी।"

"हम लोगों का कर्तव्य है कि उन्हें सहमत करें।"

"पर यह भारी दुस्साहस है।"

"मैंने उसे करने का निश्चय कर लिया है। श्रेष्ठिवर को छुड़ाने का और उपाय नहीं, जब वे उन्हें बाँध रहे थे, उसी समय मेरे मन में यह विचार आया था।"

महानायक गम्भीर दुःख और विचार में मग्न हो गए।

४

घटना का विवरण सुन कर महारानी ने कहा—श्रेष्ठिवर को इस कष्ट से प्राण देकर भी मुक्त करना होगा महानायक!

राजकुमारी ने उतावली से कहा—माता, वह मैं करूँगी?

"तू क्या करेगी ?"—रानी ने बालिका को दृष्टि गाड़ कर देखा।

"भैया से मेरी आकृति बिलकुल मिलती है, क्यों महानायक ?"

"तब ?"

"और पुरुष-वेश में मैं, भैया ही मालूम होती हूँ—यह तुम बारम्बार कह चुकी हो।"

"हाँ, पर इससे क्या ?"

"भैया को जीवित या मृत पकड़ाने वाले का पुरस्कार दस सहस्र है, इतना ही तो श्रेष्ठिवर को चाहिए ? मैं अपने को भैया की जगह पकड़ाए देती हूँ—उन रुपयों से श्रेष्ठिवर मुक्त हो जायँगे।"—इतना कह कर शीला खिलखिला कर हँस पड़ी।

रानी पर वज्र गिर पड़ा, वह घबरा कर बोलीं—वाह, यह कैसी बात ?

"क्यों ?"—कुमारी ने गम्भीर होकर कहा।

"यह तेरा पागलपन है।"

"नहीं माँ, मैंने सब बातें विचार ली हैं।"

"क्या विचार ली हैं ?"

"इस काम से दो बातें होंगी—एक तो श्रेष्ठि मुक्त होंगे, दूसरे भैया की खोज-जाँच बन्द हो जायगी और वे सुरक्षित रह सकेंगे ?"

"परन्तु ये बर्बर सैनिक तेरा कैसो निर्दयता से घात करेंगे ? चक्रवर्ती तक जीवित भी पहुँच गई, तो वह शत्रु क्या तुझे छोड़ेगा ?"

न जाने क्यों चक्रवर्ती का नाम सुन कर शीला का मुख लाल हो आया। उसने कहा—माता ! चक्रवर्ती की आज्ञा जीवित पकड़ने ही की है। जीवित पकड़ कर वे वध नहीं करेंगे, चक्रवर्ती के सम्मुख ले जायँगे। वहाँ पहुँच कर मैं चक्रवर्ती से समझ लूँगी।

"न, शीला ! मैं तुझे इतना साहस न करने दूँगी। चलो, हम लोग अन्यत्र चलें।"

शीला ने आँखों में आँसू भर कर कहा—तब कलिङ्ग-राजपट्ट महिषी इतनी स्वार्थी हो गईं कि जिसकी उदारता और आश्रय प्राप्त किया, उसे इस विपन्नावस्था में छोड़ जायँगी ?

लल्ल अब तक चुप थे। वे बोले—माता ! शीला ही की बात रहे। विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट पुरुष अपना प्रताप और त्याग प्रकट करते हैं। शीला का त्याग उसके वंश के उपयुक्त है। जो हो, श्रेष्ठिवर को छुड़ाना ही उचित है।

"तब क्या और कुछ उपाय नहीं ?"

"नहीं।"

राजमाता गम्भीर चिन्ता में मग्न हुईं। शीला ने कहा—माता ! मैं कलिङ्ग की राजकुमारी हूँ, शस्त्र-विद्या और

अश्वारोहण में कुशल हूँ। पिता जी ने मुझे कुछ शिक्षा भी दी है, इस प्रकार मैं एक बार सम्राट् के सम्मुख जाकर स्वयं उसके इस पातक और अत्याचार के सम्बन्ध में पूछना चाहती हूँ। इससे अवश्य हमारा कुछ कल्याण होगा!

अन्त में रानी ने सिर हिलाया। शीला ने कहा—तब महानायक, तुम कुन्द से कह दो कि तुम्हारे घर में कलिङ्ग का राजकुमार छिपा हुआ है, उसे पकड़ा कर श्रेष्ठि को छुड़ा दो।

लल्ल ने कहा—यह कर्त्तव्य मुझे पालन करना होगा। राजकुमारी! तुम स्वयं ही यह साहस करो।

कुमारी ने कहा—नहीं, तुम्हीं उससे कहो, जिससे उस पर भेद प्रकट न होने पाए।

× × ×

लल्ल का प्रस्ताव सुन कर कुन्द भय, आश्चर्य और दुःख से विमूढ़ हो गई। उसने कहा—क्या कलिङ्ग का राजकुमार?

"जी हाँ, वह युवक वही कलिङ्ग-राजकुमार है, जिसके सिर का मूल्य दस सहस्र है। इतने ही में तो श्रेष्ठिवर छूट जायँगे।"

"और मैं उन्हें पकड़ा दूँ—अतिथि को, जो मेरे पति के पूज्य नहीं, उनके स्वर्गीय पिता के पूज्य हैं? वृद्ध महोदय,

आपसे ऐसे नीच प्रस्ताव की आशा न थी। आप कदाचित् अपने ही स्वामी से विश्वासघात कर रहे हैं।"

"नहीं, श्रेष्ठिवधु! राजकुमार स्वयं यह इच्छा कर रहे हैं!"

"राजकुमार स्वयं इच्छा कर रहे हैं?"—कुन्द ने विमूढ़ होकर पूछा?

"जी हाँ, उन्हीं का प्रस्ताव तो मैं लाया हूँ।"

"तो कुमार की उदारता और त्याग धन्य है। उनके चरणों में मेरा प्रणाम कहिए। परन्तु यह अधर्म मुझसे न होगा। हे ईश्वर! पवित्र अतिथि से विश्वासघात करने की आप सम्मति दे रहे हैं!"

"विश्वासघात कैसे?"

"नहीं, नहीं, कदापि नहीं।"

शीला ने निकट आकर कहा—देवी! मेरी यह तुच्छ भेंट आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। आप पतिप्राणा, साध्वी और धर्मात्मा हैं, आपका सौभाग्य अचल रहे। श्रेष्ठिवर महान् पुरुष हैं, मुझे प्रसन्नता होगी कि मेरा शरीर मेरे मित्र के काम आया।

कुन्द ने रोते-रोते कहा—राजकुमार! ऐसी अधर्म की बात मुख से न निकालिए।

"अधर्म नहीं, देवी! मुझे तो स्वयं सम्राट् के निकट जाना ही है।"

"परन्तु मैं यह कुकृत्य न करूँगी ?"

"तब श्रेष्ठिवर मुक्त किस प्रकार होंगे ?"

"जैसी प्रभु की इच्छा होगी, वही होगा।"

"प्रभु की इच्छा ही से यह सुयोग हाथ लगा है ?"

"नहीं, नहीं, कदापि नहीं।"

"तब मुझे स्वयं यह कार्य करना होगा ?"

"नहीं, राजकुमार ! मुझे अधम न बनाइए !"

"देवी ! और कोई उपाय ही नहीं है, फिर यों मुक्त होने पर श्रेष्ठिवर कुछ न कुछ उपाय मुझे मुक्त करने का कर ही लेंगे, और यह तो मैं स्वयं कर रहा हूँ। सोचिए तो, श्रेष्ठिवर को वहाँ कितना कष्ट और वेदना होगी।"

कुन्द व्यथित और खिन्न-सी कुमार की ओर देखती रही।

कुमारी ने कहा—लल्ल ! तब तुम यह सन्देश राजद्वार पर ले जाओ और नगराध्यक्ष को बुला लाओ।

लल्ल ने प्रस्थान किया। कुन्द ने बहुत बाधा दी। कुछ ही क्षण में सैनिकों सहित नगराध्यक्ष ने आकर कुमारी को बाँध लिया और १० तोड़े वहीं गिन कर उसे ले चले। कुन्द और महारानी दोनों पछाड़ खाकर गिर पड़ीं।

५

"किस महोदय ने इतनी कृपा की कुन्द ! धन्य है वह प्रभु। परन्तु हाँ, अतिथियों का ठीक सत्कार तो हुआ ?

ओह ! तुम्हारा मुख इतना सफ़ेद क्यों हो रहा है। कुन्द ! तुम इतनी दुःखी क्यों हुईं ? अरे ! रोने लगीं ?"

कुन्द चुपचाप पति के चरणों में गिर कर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। उपगुप्त ने कहा—कुन्द ! अब इतना दुःख क्यों, तुम उस कृपालु मित्र का नाम तो बताओ। मैं तनिक उसे धन्यवाद दे आऊँ। कुन्द ने रोते-रोते सब घटना बयान कर दी।

मानों सहस्र बिच्छुओं ने दंश किया। उन्होंने तड़प कर कहा—क्या कहा ? कुमार को पकड़ा कर यह धन प्राप्त किया।

कुन्द निरुत्तर रही।

"कुन्द ! कुन्द ! यह पातक तुमने किया ? मेरा जन्म, जीवन, यश, धर्म—सभी नष्ट किया। कुन्द ! तुम ऐसी थीं ? यह तो आशा न थी। हाय ! बड़ा अनर्थ—बड़ा अधर्म हुआ !" इतना कह कर श्रेष्ठिवर विकल हो, इधर से उधर टहलने लगे।

लल ने धीरे-धीरे प्रवेश करके कहा—श्रेष्ठिवर ! कुमार ने स्वेच्छा से यह काम किया है, कुन्द का इसमें तनिक भी अपराध नहीं। ये तो अन्त तक सहमत न हुई थीं।

उपगुप्त ने रोते-रोते कहा—महानायक ! अब क्या होगा ? मैं कैसे इस पातक से उऋण होऊँगा ? कैसे मैं अब प्राण देकर कुमार को लाऊँ ? और आप जैसे विवेकी

वृद्ध के रहते कैसे यह कुकर्म होने पाया ? कुन्द ! स्त्रियों से इसीलिए ज्ञानी पुरुष घृणा करते हैं, स्त्रियाँ इतनी तुच्छ हैं, इतनी स्वार्थी हैं ? हा—हा ! कुन्द ! तुम सब स्त्रियों में अधम रहीं—तुमने अपने स्वार्थ के—पति के स्नेह के लिए पवित्र अतिथि को × × × कहते-कहते श्रेष्ठिवर धरती पर गिर गए।

धीरे-धीरे रानी ने घर में प्रवेश करके कहा—श्रेष्ठिवर ! क्या आपको यह विश्वास नहीं होता कि हम तीनों में से किसी को इस घटना का दुःख नहीं ? फिर कुमार की तो यह इच्छा ही थी। वह वैसे भी सम्राट् की सेवा में जाता। इसके सिवा कुन्द किसी तरह अपमान की पात्री नहीं। जैसे आप धर्मात्मा, विनयी और महान् हैं, वैसी ही आपकी पत्नी भी हैं। श्रेष्ठिवर ! शोक त्याग कर अब यह उपाय सोचना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या है ?

उपगुप्त उठ बैठे। उन्होंने कहा—सोचिए। मैं किस प्रकार कुमार को ला सकता हूँ ?

तीनों व्यक्तियों में सलाह हुई। अन्त में यही निर्णय हुआ कि उन सैनिकों के साथ, जो कुमार को ले जा रहे हैं, हम लोग भी राजधानी को चलें। वहाँ जैसा कुछ होगा, देखा जायगा। यह निर्णय करके उपगुप्त ने कुन्द की ओर देख कर स्निग्ध स्वर में कहा—कुन्द, आओ ! इन पूज्य अतिथियों के सम्मुख हम-तुम भी कुछ परामर्श कर लें !

यह तो तुमने देखा ही कि यह धन कितने अपमान और अधर्म की जड़ है। आओ, हम मन, वचन, कर्म से इस धन का त्याग करें, मैंने श्रेष्ठि पद त्यागा, मैं दरिद्रराज हुआ! आज से धनमात्र मेरे लिए लोष्ठवत् हुआ और तुम्हारे लिए भी, कुन्द!

कुन्द ने चुपचाप स्वीकृति दी।

"अच्छा, अब आज से हम लोग न धन छुएँगे, न धन से हमारा सम्बन्ध रहेगा। अब दूसरी बात सुनो! यह घनिष्ठ सम्बन्ध भी—जैसा कि हमारे-तुम्हारे बीच में है—दुःख और पाप का मूल है। देखो, इसी घटना ने कितने दुःख और पाप का प्रदर्शन कराया! आओ, हम लोग इस सम्बन्ध का भी विच्छेद करें! कुन्द, आज से हम लोग पति-पत्नी नहीं! तुम्हारा कल्याण हो, तुम जगत में विचरण करो, जगत की सेवा करो। मैं कुमार को छुड़ा कर तब यह करूँगा।" इतना कह कर उपगुप्त उठे। कुन्द वज्राहत की तरह धरती पर गिर गई। उपगुप्त ने उधर देखा भी नहीं। वे अति गम्भीर मुद्रा में घर से बाहर हुए।

६

ग्रीष्म की ज्वलन्त लू और उत्ताप की तनिक भी परवा न करके सैनिक ने पर्वत की उपत्यका में घोड़ा छोड़ दिया था। आगे-आगे एक हरिण प्राण लेकर भाग रहा था। युवक सैनिक के धनुष पर बाण चढ़ा था। उसे उसने कान

तक खींच कर मारा। बाण हरिण के पैरों में लगा। पर वह प्राण-सङ्कट को समझ कर गर्म-गर्म रुधिर-विन्दु टप-काता आहत होकर उपत्यका के एक पार्श्व में भाग कर छिप गया। हरिण को सम्मुख न देख कर सैनिक घोड़े से उतर पड़ा—वह रक्त-विन्दु के चिन्ह देखता-देखता आगे बढ़ा।

सम्मुख एक घने अश्वत्थ के वृक्ष के नीचे शीतल छाया में एक वृद्ध भिक्षु बैठा था। उसकी गोद में वही हरिण था—वह यत्न से उसके पैर से तीर निकाल कर उसके घाव पर पट्टी बाँध रहा था।

युवक ने वहाँ पहुँच कर क्रोध से कहा—तू कौन है, पाखण्डी ?

"तुम्हारा कल्याण हो !"—वृद्ध भिक्षु ने सिर उठा कर कहा।

"पर तू है कौन ?"

"मैं भिक्षु हूँ !"

"भिक्षु, तेरा यह साहस कि मेरे आखेट को हाथ लगा सके ? इसे अभी छोड़ दे !"

"क्यों ?"

"यह मेरा आखेट है !"

"यह तेरा किसलिए है ?"

"मैंने इसे मारा है ?"

"मारने वाला किसी का स्वामी नहीं हुआ करता, शत्रु होता है; और शत्रु का कोई अधिकार नहीं होता। स्वामी होता है बनाने वाला, उसी का अधिकार भी होता है।"

"तू बड़ा धृष्ट प्रतीत होता है।"

"साधु के लिए विनय और धृष्टता क्या है?"

"तब इसे छोड़ दे—यह मेरा शिकार है।"

"नहीं, यह मेरा आश्रित दीन पशु है।"

"इसे मैंने मारा है।"

"इसकी मैंने रक्षा की है।"

सैनिक का क्रोध और तेज मानों व्यर्थ जा रहा था। ऐसे धृष्ट प्रश्नोत्तर का उसे अभ्यास न था। परन्तु वृद्ध साधु का प्रभाव उस पर पड़ रहा था। उसने कहा—तू इसका क्या करेगा?

"मैं इसे नीरोग करके छोड़ दूँगा, यह फिर आनन्द से विचरण करेगा।"

"तू अवश्य इसका मांस खायगा। तू धूर्त है, मेरा आखेट हड़पना चाहता है।"

"युवक सैनिक, शान्त हो, हिंसक से रक्षक बड़ा है। जो व्यक्ति एक कीड़ा भी नहीं बना सकता, वह इतने बड़े पशु को कैसे मारता है? इसका उसे अधिकार क्या है? हम लोग भक्षक नहीं, रक्षक हैं। निकट ही हमारा विहार है, वहाँ बहुत से बौद्ध भिक्षु हैं, जो प्राणियों की सेवा-

शुश्रूषा करते हैं। रोगी जीव-जन्तु की चिकित्सा की जाती है और प्रेम और दया हमारा धर्म है।"

युवक चुपचाप खड़ा रहा। उसने कहा—मैं तेरा वह विहार देखूँगा?

वृद्ध ने चलने का आयोजन करके कहा—मेरे साथ आओ। उसके पास और भी कई रोगी और घायल पशु थे। उन सबको उसने उठाया। सैनिक ने कहा, इतना भार तुम नहीं उठा सकते, लाओ यह हरिण मैं ले चलूँ।

युवक का स्पर्श पाते ही हरिण छटपटाने लगा।

भिक्षु ने कहा—उसे मत छुओ। उसे तुमसे घृणा है। भिक्षु ने उसे गोद में ले लिया। वह शिशु की तरह उसकी गोद में सो गया।

दोनों चले। युवक का गर्व भङ्ग हुआ। वह सोचता जा रहा था—मैं समझता था, पृथ्वी भर के राजमुकुट मेरे चरणों में गिरते हैं, और सभी मेरी प्रतिष्ठा करते और मुझसे भय खाते हैं। पर यह तुच्छ पशु भी मुझसे घृणा करता है? इस वृद्ध भिक्षु में ऐसा क्या गुण है, जो यह मूक प्राणी भी इस पर विश्वास करता, प्रेम करता और आत्मसमर्पण करता है? हाय! मैं इतना अधम हूँ। एक बार उसने रक्त और धूल से भरे अपने वस्त्रों को देखा। एक गम्भीर श्वास ली और नीचा सिर किए साधु के पीछे-पीछे चला।

७

वन-प्रदेश के एक घने कुञ्ज में वह विहार था। वहाँ पूर्ण शान्ति और आनन्द का राज्य था। उत्तप्त सूर्य की किरणें उस दुर्भेद्य वृक्ष-राशि को पार नहीं कर सकती थीं। उस सघन छाया में बहुत सी पर्ण-कुटियाँ बनी थीं, जहाँ भिन्न-भिन्न आयु के वीतराग बौद्ध साधु ज्ञानचर्चा में मग्न थे। रोगी और घायल पशु और मनुष्यों की चिकित्सा हो रही थी। सहस्रों पशु-पक्षी निर्भय किलोलें कर रहे थे। वृद्ध के पहुँचते ही दो साधुओं ने दौड़ कर वृद्ध का बोझ ले लिया और वे उनके उपचार में लगे। युवक सैनिक विमूढ़-सा खड़ा यह सब देख रहा था। ऐसी शान्ति और आनन्द उसने अपने जीवन में नहीं देखा था। एक नई भावना उसके हृदय में उदय हो रही थी—वह कुछ सोच रहा था। एक नवीन तेज उसके नेत्रों में दीप्त हो रहा था।

एक प्रचण्ड जयघोष हुआ—'महामोगलीपुत्र तिष्य की जय!' युवक ने दृष्टि उठा कर देखा—सम्मुख एक तेज-मूर्ति चली आ रही है। प्रशान्त मुख-मण्डल, गम्भीर गति, महान् व्यक्तित्व। युवक ने सोचा, यह क्या? यही महा-प्राण भगवान् मोगलीपुत्र तिष्य हैं, जिनके विषय में सुना गया है कि उनके दर्शन होना दुर्लभ है। और जिसे एक बार उनके दर्शन हो जाते हैं, वह धन्य समझा जाता है। युवक एकटक उस महान् शरीर को देखता रहा।

भगवान् तिष्य ने युवक के निकट आकर कहा—चक्रवर्ती सम्राट् की जय हो !

एक अतर्क्य शक्ति के प्रभाव से सम्राट् ने साधुवर के चरणों में सिर झुका दिया। भिक्षु-मण्डल अवाक रह गया। भगवान् तिष्य ने कहा—सम्राट् ! इस वृद्ध भिक्षु ने अज्ञान में यदि कुछ अनाचार किया हो तो क्षमा करें—चक्रवर्ती से इसका परिचय नहीं।

सम्राट् ने कहा—प्रभो ! आज मैं कृतकृत्य हुआ। साम्राज्य के प्रचण्ड सम्मान और परिच्छद में मुझे ऐसी शान्ति नहीं मिली, जो आज मैं इस तपोवन में प्राप्त कर रहा हूँ। भगवान् के दुर्लभ दर्शन पाकर मैं और कृतार्थ हुआ। प्रभो ! कलिङ्ग के युद्ध में मैंने एक लक्ष प्राणियों का वध किया है। अब देखता हूँ, वध करने से रक्षा करना श्रेष्ठ है। मैं समझता था कि पृथ्वी के महाराजा भी मेरा सम्मान करते हैं। परन्तु आज अधम प्राणी को घृणा करते देख कर मेरे मन में प्रबल आत्म-ग्लानि उदय हुई है। प्रभो ! रक्षा करें। यह किङ्कर आपकी शरण है।

"सम्राट् !"—भगवान् तिष्य ने कहा—"आपकी धर्म में अभिरुचि हुई, यह बहुत शुभ हुआ। भगवान् बुद्ध ने भी इसी प्रकार अकस्मात् ज्ञान प्राप्त किया था। शक्ति और अधिकार द्वारा अधीनों को वश में करने की अपेक्षा प्रेम और दया से प्राणि-मात्र का जीतना श्रेयस्कर है। शरीर को

अधीन करने की अपेक्षा आत्मा को वशीभूत कर लेना सच्ची विजय है। आप पृथ्वी के चक्रवर्त्ती सम्राट् हैं; परन्तु जब आप पृथ्वी की आत्माओं को वशीभूत कर लेंगे, तो आपकी अक्षय विजय होगी। आप अमर होंगे।

सम्राट् ने नत-मस्तक होकर कहा—भगवन्! मुझे सत्ज्ञान प्रदान कीजिए। मैं प्रेम और दया द्वारा प्राणियों की आत्मा को विजय करूँगा। क्षमा मेरा शस्त्र, दया मेरी नीति, और त्याग मेरा शासन होगा।

'तथास्तु' तब सम्राट् आपका नाम 'चण्डाशोक' के स्थान पर 'देवानां प्रिय' प्रसिद्ध होगा। आपका कल्याण हो, आप आज से देवताओं को प्रिय हुए। कहो—

"बुद्धं सरणं गच्छामि!
"धम्मं सरणं गच्छामि!
"संघं सरणं गच्छामि!"

सम्राट् ने पृथ्वी पर घुटने टेक कर उपरोक्त पंक्तियों को दुहराया। मोगलीपुत्र तिष्य ने पवित्र अभिसिञ्चन करके कहा—सम्राट् देवानां प्रिय अशोक की जय हो! आओ सम्राट्, अब मैं आपको आपके आचार्य का परिचय कराऊँगा, जिनसे गुरुवत् आपको व्यवहार करना होगा, जो परम वीतराग, महान् धर्मात्मा और एकनिष्ठ महापुरुष हैं, जिनकी आत्मा में महान् बुद्ध का निवास है। वे सदैव आपके साथ रह कर आपको कल्याण का मार्ग बतावेंगे

और आपको सुमति की शिक्षा देंगे। उनके वचन का अनुसरण करके आप पृथ्वी पर और स्वर्ग में अक्षय कीर्ति प्राप्त करेंगे।

आचार्य तिष्य इतना कह कर पीछे को मुड़े। एक घने कुञ्ज में छोटी सी कुटिया के द्वार पर जाकर पुकारा—आचार्य उपगुप्त! सम्राट् आपकी सेवा में समुपस्थित है?

आचार्य उपगुप्त—वही श्रेष्ठिराज उपगुप्त—पीत परिधान किए, मुण्डित सिर, विनम्र-मुख कुटी से बाहर आए। सम्राट् अशोक ने पृथ्वी पर गिर कर उनको प्रणाम किया और कहा—आचार्य! मुझे सन्मार्ग बताइए!

आचार्य उपगुप्त की मुद्रा भङ्ग न हुई, न उन्होंने दृष्टि उठाई! उनके नेत्रों में अश्रुधारा प्रवाहित हुई। आचार्य तिष्य ने कहा—आचार्य! सम्राट् आपके तत्वावधान में पृथ्वी पर धर्म-विस्तार करेंगे—आप ही सम्राट् को सन्मार्ग बताने योग्य हैं, आप सम्राट् का प्रणाम ग्रहण कीजिए।

आचार्य उपगुप्त ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—देवानां प्रिय सम्राट् की जय हो। परन्तु आचार्य! सम्राट् का भार मुझ पर न डालें, सम्राट्! आचार्य तिष्य के रहते और कौन समाट् को सन्मार्ग बतावेगा?

भगवान् तिष्य ने कहा—आचार्य! आत्मा पर सदैव ही अज्ञान का आवरण रहता है और उस आवरण को भेद करने के लिए एक रहस्यविद् की आवश्यकता है। आप ही

वह रहस्यविद् हैं। आचार्य ! अपने शिष्य का कल्याण चिन्तन कीजिए—मेरा कार्य समाप्त हुआ। यह कह कर मोगलीपुत्र तिष्य अन्तर्धान हुए। सम्राट् और उपगुप्त क्षण भर विमूढ़ रहे। अब आचार्य उपगुप्त ने नेत्र उठा कर कहा—चक्रवर्ती, भीतर कुटी में पधार कर कृतार्थ करें।

दोनों महान आत्माएँ कुटी में प्रविष्ट हुईं।

८

आचार्य उपगुप्त ने कहा—हे सम्राट् ! यह दुःख उत्तम सत्य है। जन्म दुःख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनका उपस्थित होना दुःख है। जिन वस्तुओं की हम अभिलाषा करते हैं, उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पाँचों कामनाओं में लगे रहना दुःख है। दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है। लालसा पुनर्जन्म का कारण है, जिसमें सुख और लालच होते हैं। दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है—वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है। यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य चलाने से, उसकी मुक्ति पाने से, और कामना का नाश होने से होता है। सम्राट् ! क्या आप इस गूढ़ तत्त्व को समझे ?

"नहीं भगवन् !"

"सम्राट्! जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःखों का कारण है। उस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त होता है। और पवित्र जीवन से यह लालसा मर जाती है। पवित्र जीवन आठ विषयों में विभाजित किया गया है :—

"(१) सत्य विश्वास, (२) सत्य कामना, (३) सत्य वाक्य, (४) सत्य व्यवहार, (५) जीवन-निर्वाह के सत्य उपाय, (६) सत्य उद्योग, (७) सत्य विचार, (८) सत्य ध्यान।

"ये आठ विधियाँ आठ ग्रन्थों के समान हैं। शुद्ध विचार और शुद्ध विश्वासों को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिए। उच्च उद्देश्य और कामनाएँ हृदय के नेत्र के सामने सदा उपस्थित रहनी चाहिए। प्रत्येक वाक्य में सत्यता, सुशीलता होनी चाहिए, और व्यवहार में सत्यता और पूर्ण शुद्धता। जीवन का उपाय इस प्रकार ढूँढ़ कर ग्रहण करना चाहिए, जिससे किसी जीवित या चैतन्य प्राणी को कोई कष्ट न हो। भलाई करने में तथा दया, सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिए। मन और बुद्धि से चेतन और कार्य-तत्पर होना चाहिए। शान्त और धीर विचार से जीवन को सुख प्राप्त होता है। यह कामना, मनःक्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है।

"सम्राट्! यह तथागत बुद्ध की शिक्षाओं का सार है। आपने समझा?"

"हाँ, आचार्य! परन्तु संसार में सुखी कौन है?"

"जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है, और शोक को छोड़ दिया है; जिसने अपने को सब ओर से स्वतन्त्र कर लिया है, जिसने सब बन्धनों को तोड़ डाला है, उसके लिए कोई दुःख नहीं। वह सुखी है।"

"आचार्य! मैं सुखी नहीं हूँ। मैं सुखी होने की चेष्टा करूँगा। मुझे साधारण उपदेश प्रदान करें—मुझे कर्तव्य-पथ बतावें।"

आचार्य ने कहा—सम्राट्! सन्मार्गी को किसी जीव को नहीं मारना-मरवाना चाहिए और यदि दूसरे लोग उसे मारें तो उसे सराहना नहीं चाहिए। सब जन्तुओं को, चाहे वे बलवान् हों वा बलहीन—उन सबके मारने का विरोध करना चाहिए।

उसे किसी की वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए, जिसे कि वह जानता है कि वह दूसरे की है और जो उसे दी नहीं गई है। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी न लेने देना चाहिए, और जो लें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिए।

उसे व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले के समान करना चाहिए। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न

कर सके, तो उसे पर-स्त्री से व्यभिचार तो न करना चाहिए।

उसे झूठ न बोलना चाहिए, न दूसरों से बुलवाना चाहिए। जो झूठ बोलें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार असत्य का त्याग करना चाहिए।

उसे कोई मादक द्रव्य न सेवन करना चाहिए—न दूसरों को पिलाना चाहिए, न पीने वालों को सराहना चाहिए।

सम्राट्! ये पाँच शील हैं, इनका सद्धर्मी को अवश्य पालन करना चाहिए।

"भगवन्! मैं आज से इनका पालन करूँगा।"

"सम्राट्! भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"घृणा कभी घृणा से नहीं जीती जाती। घृणा प्रीति से बन्द होती है। यही इसका स्वभाव है।

"जो हमसे घृणा करते हों, उनके बीच हमें घृणा-रहित हो प्रीतिपूर्वक रहना चाहिए।

"क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिए। बुराई को भलाई से विजय करना चाहिए। लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।

"उस मनुष्य के उत्तम और फलहीन शब्द, जो उनके अनुसार कार्य नहीं करता, उस सुन्दर फूल की नाईं हैं, जो रङ्ग में सुन्दर, परन्तु गन्धरहित है।

"भलाई करने वाला जब संसार छोड़ कर परलोक को जाता है, तो उसे वहाँ उसके भले कर्म उसके सम्बन्धी और मित्रों की नाईं उसका स्वागत करते हैं।

"वह मनुष्य बड़ा नहीं है, जिसके सिर के बाल पक गए हैं, जिसकी अवस्था बड़ी हो गई है—वह तो वृथा ही वृद्ध कहलाता है। वह मनुष्य, जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है—वह, जो अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान् है—वही बड़ा है।"

आचार्य उपगुप्त ने इतना कह कर ऊपर नेत्र उठाए! फिर दोनों हाथ उठा कर कहा—सम्राट् का कल्याण हो! देवानां प्रिय! प्रियदर्शी सम्राट् को धर्म-विजय हो। हे सम्राट्! इस महान् धर्म की दीक्षा आपने ली, अब आप देश-देशान्तरों में धर्म-विस्तार कीजिए।

सम्राट् ने नत-मस्तक होकर 'जो आज्ञा' कहा, और बिदा हुए।

९

सन्ध्या का समय था। सम्राट् वाटिका में धीरे-धीरे गम्भीर मुख-मुद्रा किए टहल रहे थे। समस्त भारत के चक्रवर्ती सम्राट् के सम्मुख ऐसी गहन समस्या न आई थी। उनका चिन्तनीय विषय था कलिङ्गराज का दुर्धर्ष अपघात। वे सोच रहे थे, मैंने एक हरे-भरे सुखी राज्य का अकारण विध्वंस किया। कलिङ्गराज न जाने कहाँ कैसे मारे गए।

उनके युवराज भी पता नहीं कहाँ हैं।" और उनका परिवार न जाने किस दुर्दशा में है। कैसे मैं इस पातक से उऋण होऊँगा।

सम्राट् के ज्ञान-चक्षु खुल गए थे और उन्हें महान् दया-धर्म का तत्त्व प्रकट हो गया था। वे सोच रहे थे कि किस प्रकार इस दुष्कर्म का प्रतिशोध किया जाय।

हठात् एक दण्डधर ने निकट आकर अभिवादन करके कहा—प्रभो ! कलिङ्ग राजकुमार को लेकर महानायक आए हैं।

अशोक ने उत्फुल्ल होकर कहा—उन्हें अभी यहाँ ले आओ। क्षण-भर ही में कलिङ्ग-राजकुमार को लेकर महानायक ने सम्राट् का अभिवादन करके राजकुमार से कहा—कुमार ! सम्राट् का अभिवादन करो !

कुमार ने हँस कर कहा—महानायक, आपकी आज्ञा की आवश्यकता नहीं, आपके सौजन्य के लिए, जो आपने मार्ग भर में मुझ पर किया, मैं आभारी हूँ। अब मैं सम्राट् के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, स्वयं सोच-समझ लूँगा। आप सम्राट् की आज्ञा लेकर जा सकते हैं।

महानायक ने विमूढ़ होकर राजकुमार के इस प्रगल्भ भाषण को सुना। वह खड़ा रह गया। सम्राट् भी चकित हुए। उन्होंने दृष्टि गाड़ कर राजकुमार की मुख-मुद्रा देखी।

कुमार ने एक कटाक्षपात करके मुख नीचा कर लिया और कहा—सम्राट्, महानायक को आज्ञा प्रदान करें तो मैं सम्राट् का अभिवादन करूँ।

सम्राट् ने महानायक को जाने का सङ्केत किया और कुमार के निकट आकर कहा—"कलिङ्ग-राजकुमार! अभिवादन की आवश्यकता नहीं। मैंने तुम्हारे राज्य और परिवार के साथ बड़ा अन्याय और अत्याचार किया। मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि अब तुम्हारे पूज्य पिता का पता लगाना कठिन है। राजकुमार! तुम चाहो तो मुझे उस अपराध का दण्ड दो। परन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे शत्रु न समझो। प्रिय राजकुमार! क्या तुम मेरा अनुरोध रक्खोगे?" छद्मवेशी राजकुमार कण्टकित होकर दो क़दम पीछे हट गए। उन्होंने धरती पर घुटने टेक कर सम्राट् का अभिवादन किया और कहा—चक्रवर्ती की जय हो! राजा राजाओं से युद्ध करते हैं—जय-विजय एक पक्ष की होती ही है। सम्राट् को विजित राज्य के बन्दी राजपुत्र के प्रति इतने शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं।

"नहीं राजकुमार! अकारण ही मैंने उस समृद्धिशाली राज्य को भ्रष्ट किया और अब अकारण ही कुमार! तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में अपूर्व प्रेम उमड़ रहा है—यह क्या बात है? अच्छा अपना हाथ तो मुझे दो प्रिय—परम प्रिय कुमार?"

कुमार ने पीछे हट कर कहा—नहीं श्रीमान्! यह सेवक इस सम्मान के योग्य नहीं। श्रीमान् को भी शत्रु-पुत्र का इतना सत्कार करना उचित नहीं।

"शत्रु-पुत्र नहीं, कुमार! मैंने निश्चय किया है कि मैं तुम्हारे पिता का राज्य तुम्हें युद्ध-क्षति सहित लौटा दूँगा, इसके सिवा और भी जो माँगो, मैं दूँगा।"

"सम्राट् क्या सत्य ही प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं?"

"हाँ-हाँ, प्रिय कुमार! मैं वचन देता हूँ।"

"सम्राट् मुझे मेरी माँगी वस्तु देंगे?"

"अवश्य। चाहे वह सिंहासन ही क्यों न हो!"

"सिंहासन ही तक बस?"—छद्मी कुमार ने कटाक्षपात किया।

"प्राण भी, शरीर भी! प्यारे कुमार! तुम्हारी चितवन कितनी प्यारी है। लाओ अपना हाथ तो दो।"

"तब आपके प्राण और शरीर मेरे हुए? श्रीमान् फिर विचार लें। यह तुच्छ हाथ उपस्थित है।"

सम्राट् उसे पकड़ने को लपके। आचार्य उपगुप्त ने उच्च स्वर से पुकार कर कहा—"चक्रवर्ती! तनिक धैर्य!" चक्रवर्ती ने देखा—आचार्य दो व्यक्तियों के साथ आ रहे हैं। दोनों व्यक्ति दूर खड़े रह गए। आचार्य आगे बढ़े। सम्राट् ने आगे बढ़ कर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—आचार्य! कलिङ्ग-राजकुमार जितेन्द्र उपस्थित हैं।

मैंने इन्हें इनका राज्य और युद्ध-क्षति तो दी ही है, अपना शरीर और प्राण भी दिया—ये इसके स्वामी हैं। कुमार! आचार्य को प्रणाम करो।

छद्मवेशी कुमार आगे बढ़ कर आँखें फाड़-फाड़ कर आचार्य उपगुप्त की ओर देखने लगे! आचार्य ने आगे बढ़ कर कुमार के मस्तक पर हाथ धर कर कहा—कल्याण! कल्याण!

छद्मवेशी राजकुमार के ओंठ फड़क कर रह गए। उसके मुख से अस्पष्ट स्वर में निकला—"श्रेष्ठि...व...र" आचार्य ने सम्राट् के निकट पहुँच कर मधुर मुस्कान के साथ कहा—चक्रवर्ती ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता से अपना प्राण और शरीर सुपात्र को दिया। हाँ, अब आप उस पवित्र हाथ का ग्रहण करिए! इतना कह कर आचार्य ने सम्राट् का हाथ पकड़ लिया।

सम्राट् चकित हुए। कुमार का मुख लाल हो गया। वे दो क़दम पीछे हट गए। आचार्य ने कहा—कलिङ्ग-महाराज कुमारी शीला! तुमने स्वयं ही यह क्रय-विक्रय किया है, अब सङ्कोच क्यों?

सम्राट् के मुख से निकल गया—क्या कहा? कलिङ्ग-महाराज कुमारी शीलादेवी! आचार्य, आप क्या कहते हैं?

आचार्य ने उधर ध्यान न देकर कहा—महाराज-कुमारी, अब अपना छद्मवेश त्याग दीजिए और तनिक

निकट आइए! इतना कह कर उन्होंने कुमारी का हाथ सम्राट् के हाथों में पकड़ा दिया।

दोनों का हृदय-स्पन्दन क्षण भर को रुक गया। कुछ शान्त होने पर सम्राट् ने कहा—आचार्य! कुकर्म का यह सुफल क्यों?

आचार्य ने कहा—सम्राट्! यह सुकर्म का फल है। देखिए, वह कलिङ्गराज और महाराजकुमार खड़े हैं, उनका स्वागत करें।

सम्राट् दौड़ कर कलिङ्गराज के पैरों में झुके। कलिङ्ग-महाराज महेन्द्र ने उठा कर उन्हें छाती से लगा लिया। दोनों महानृपति तन-मन से एक हो गए। इसके बाद आचार्य ने कुमारी के त्याग और साहस का सारा विवरण कह सुनाया। पिता ने पुत्री को छाती से लगाया और अपने हाथ से उसे सम्राट् के हाथों में सौंप कर कहा—सम्राट्! यद्यपि आप इसे भी मेरे देने से पूर्व ही ले चुके, परन्तु फिर भी मेरे हाथ से इसे एक बार ग्रहण कीजिए।

सम्राट् ने नत-मस्तक होकर कुमारी का पाणिग्रहण किया। साम्राज्य भर में आनन्दोत्सव की धूम हो गई। कलिङ्गराज वनवासी हुए और महाराजकुमार जितेन्द्र कलिङ्ग की गद्दी पर विराजित हुए।

पतिता

पतिता

मेरा नाम आनन्दी है। जब मेरी आयु ११ वर्ष की थी, तब मैं अपनी मौसी के साथ दिल्ली आई। मैंने कभी दिल्ली देखी न थी, सुनी थी। बहुत तारीफ़ सुनी थी—बिजली की रौशनी, ट्राम, पङ्खे, मोटर—सब कुछ मेरे लिए स्वप्न-सा था। अब तक मैं देहात में रही, पहाड़ में खेली और बड़ी हुई। मेरे माँ-बाप ज़मींदार थे, नाम ज़बान पर लाना नहीं चाहती, मैं कलङ्कित हुई, उन्हें क्यों बट्टा लगाऊँ? मैं उनकी इकलौती बेटी थी, गोदों में पली और प्यार में नहाई, मेरे बराबर सुखी कौन था? जब मैं सुनहरी धूप में तितली की तरह उछलती-कूदती सामने की हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों पर दौड़-धूप करती थी, मेरी पड़ोसिनें गीत गातीं, घास का गट्ठर पीठ पर लादे मेरे सामने से निकल जातीं। झरने का मोती के समान उज्ज्वल और बर्फ़ के समान ठण्डा पानी, इठला-इठला कर पीती, उसमें पत्थर मार कर उसे उछालती, कभी पत्ते की नाव बना कर बहाती!

ओह! मैं कितना हँसती थी? हँसते-हँसते आँसू निकल आते थे। आज तो रोने पर भी नहीं निकलते,

मालूम होता है कलेजे का सारा रस सूख गया है। लड़कियों को मैं ख़ूब मारती, पर पीछे उन्हें चुमकार-पुचकार कर राज़ी भी कर लेती। मुझमें अकड़ ख़ूब थी, पर मैं भोली भी एक ही थी, जो कोई मुझसे प्यार से बोलता, मैं उसकी चाकर, जो ज़रा टेढ़ा हुआ और बस फिर मैं भी टेढ़ी!

जीवन क्या होता है, मैंने कभी नहीं जाना; मैं बड़ी हो जाऊँगी, यह मैंने नहीं सोचा; मुझ पर दुनिया की कोई ज़िम्मेदारी पड़ेगी, इसका ध्यान भी न था। भविष्य की आने वाली सारी आँधियों और तूफ़ानों के भय से दूर मैंने हिमालय की पवित्र और सुखमयी गोद में अपने हीरे-मोती से ग्यारह साल व्यतीत किए।

२

दिल्ली देख कर मैं सचमुच घबरा गई थी। और मौसी के घर में घुसते तो भय लगता था। वह घर था? दैदीप्यमान इन्द्रभवन था। वह सजावट देख कर मेरी आँखें बन्द होने लगीं। बढ़िया रङ्ग-विरङ्गे क़ालीन, दूध के समान उज्ज्वल चाँदनी, बड़े-बड़े मसनद, मख़मली गद्दे, मसहरियाँ, तस्वीर, सिङ्गारदान, आइने और न जाने क्या-क्या? मेरे पद-स्पर्श से, छू लेने से कहीं कोई वस्तु मैली न हो जाय, बिगड़ न जाय—इस भय से मैं सिकुड़ कर एक कोने में खड़ी हो गई। मैं मैली-कुचैली, गाँव की अल्हड़ बच्ची इस

घर में कहाँ रहूँगी ? रह-रह कर भाग जाने की इच्छा होती थी।

मौसी ने मेरी द्विविधा को भाँप लिया, उसने पास आकर दुलार से कहा—जा बेटी ! ऊपर हीरा है और भी कई जनी हैं, तू भी वहीं जाकर बैठ।

मैं ऊपर चल दी। क्या देखा ? कह ही दूँ ? रूप वहाँ बिखरा पड़ा था। मानों किसी ने चाँद को ज़ोर से ज़मीन पर दे मारा हो और उसके टुकड़े बिखरे पड़े हों। सब १०-१५ थीं। सभी एक से एक बढ़ कर। सभी अलबेली मस्तानी थीं, और चुहलबाज़ी में लगी थीं। किसी की कङ्घी-चोटी हो रही थी, किसी का उबटन ; कोई धोती चुन रही थी, कोई गजरा गूँथ रही थी। सभी नवेलियाँ थीं, यौवन उनके अङ्गों से फूट रहा था। यौवन और सौन्दर्य के ऊपर एक और उन्मादिनी वस्तु थी, जिसे तब न समझा था, बहुत दिन बाद, जब मैं भी उसमें मिल गई, समझा—वह थी वेश्यापन की धृष्टता। और उसने उन्हें आफ़त बना रक्खा था।

वे लड़कियाँ न थीं, स्त्रियाँ भी न थीं ; वे थीं आग के छोटे-छोटे अङ्गारे। पड़े दहक रहे थे, छूते ही छाला उत्पन्न कर दें। इन सबके बीच में हीरा थी। उसका भी कुछ वर्णन तो करना ही पड़ेगा, वैसा रूप तब से आज तक, यद्यपि मैंने जीवन भर रूप के सौदे किए—पर देखा ही नहीं, सुना

भी नहीं। इटली के कारीगर की बनाई सङ्गमर्मर की प्रतिमा की भाँति, हंस की सी सुराहीदार और सफ़ेद गर्दन उठाए वह बैठी बाल सुखा रही थी। एक धानी डुपट्टा उसके वक्षःस्थल पर अस्त-व्यस्त पड़ा था, पर उस अनिन्द्य वक्षस्थल को शृङ्गार करने के लिए और किसी परिधान की आवश्यकता ही न थी। प्रभातकालीन नवविकसित कमल-पुष्प के समान उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और फूले हुए लाल-लाल होंठ! हल्के पारदर्शी रङ्ग से प्रतिबिम्बित से गाल उसकी मुख-मुद्रा को लोकोत्तर बना रहे थे। उसके दाँत किस कारीगर ने बनाए थे, यह मैं मूर्ख क्या बताऊँ! पर उनकी चमक से चौंध लगती थी। हीरा ने अनायास ही मुझे देखा, सभी ने देखा, मैं सहम कर ठिठक गई! उसने मुस्करा कर पास बुलाया, गोद में बैठा कर पुचकारा, प्यार किया, मेरे देहाती वस्त्रों को देखा और हँस दी। उसने प्यार से मेरे गालों पर चुटकी ली और मेरे शृङ्गार में लग गई। उबटन किया, चोटी में तेल दिया, कपड़े बदले और न जाने क्या-क्या किया। इसके बाद मेज़ पर उचका कर मुझे रख दिया, और सहेलियों से बोली—"देखो री, हमारी छोटी रानी कितनी सुन्दर है।" उसने मुझे चूमा, फिर तो मुझ पर इतने चुम्मे पड़े कि मैं घबरा गई। उन चुम्मों में, उस प्यार में, उस शृङ्गार में मैं भूल गई—अपना बचपन, वे पवित्र खेल-कूद, वे पर्वत-श्रेणी, उपत्यकाएँ, माता-पिता,

सहेली—सभी को। मेरे मन में एक रङ्गीन भाव की रेखा उठी और धीरे-धीरे मैं मदमाती हो चली!

३

परन्तु, उस भीषण ऐश्वर्य और ज्वलन्त रूप की जड़ में जो पाप था, उसे मैं कैसे समझती? पाप कहते किस हैं, यही मैं कैसे जानती? जीवन के सुख और ऐश्वर्य के पीछे एक धर्म-नीति छिपी रहती है, यह मुझे उस घर में बताता कौन? फिर भी मेरी आत्मा ही ने मुझे बताया, वही आत्मा अन्त तक मेरे कर्मों का नियन्ता रहा।

मैं उस घर में सब कुछ देखती थी। मैं कह चुकी हूँ कि मुझ-सी दस-पन्द्रह थीं। पर मैं सब से छोटी थी, नई आई थी, सबके पृथक्-पृथक् सजे हुए कमरे थे। सबके पास बढ़िया गहने-कपड़े इत्र और न जाने क्या-क्या था। सबकी खातिर भी खूब होती थी, चोचले भी चलते थे, पर मैं मौसी के पास सोती और रहती थी। सबके उतरे गजरे पहनना और बची हुई मिठाई खाना मेरा काम था। धीरे-धीरे मेरे मन में ईर्ष्या होने लगी। मैंने एक दिन मौसी से कह भी दिया, रूठ भी गई, आखिर मैं क्या आसमान से गिरी हूँ, मुझे भी एक कमरा, पलङ्ग और वैसे ही सब सामान चाहिए, जो औरों के पास हैं।

मौसी हँस पड़ी। उसने मुझे गोद में लिया, चूमा और कहा—"धीरज रख बेटी! वह समय भी आ रहा है,

जब तू इन सब से चढ़-बढ़ कर रहेगी।" उस समय की मैं बड़ी बेचैनी से बाट जोहने लगी। साथ ही करने लगी अध्ययन उन सबका, जिन पर मेरी ईर्ष्या थी।

मेरी ईर्ष्या की प्रधान पात्री थी हीरा! वही तो सब में एक थी, घर-घर, नगर में और दूर-दूर उसकी चर्चा थी, उसका रूप था। दुपहरी थी, उसकी वह दन्त-पंक्ति, मोती-सा रङ्ग, कटीली आँखें, मन्द हास्य, हंस की-सी गर्दन, साँचे में ढाला बदन, कितने सेठ-साहूकार, राजा-रईस, नवाब-शाहज़ादों को अधीर बनाए था—वे उसके पास आते, क्या-क्या आदर-भाव करके, दासियाँ हुक्म की बन्दी रहतीं! सुनहरे काम का छपरखट और उसका हरा रङ्गीन कमरा, क्या मैंने लाखों बार भी डाह की नज़र से न देखा होगा?

एक दिन अचानक मौसी ने कहा—"आनन्दी, ले अपना कमरा पसन्द कर। कौन-सा लेगी, मैं अब तुझे भी अलग कमरा दूँगी, उसे तेरी मर्ज़ी का सजाऊँगी। कपड़े-लत्ते, साड़ी, जो तेरी पसन्द का हो तू बाज़ार में जाकर ले आ। ले यह एक हज़ार रुपए, सिर्फ़ कपड़े और सिङ्गार-पटार के लिए हैं। ज़ेवर मैं तुझे अलग दूँगी।" इतना कह कर उसने नोटों का एक बण्डल मेरी गोद में डाल दिया और कहा—"शाम को हीरा के साथ जाकर ज़रूरी सामान ख़रीद ला। ले, मैं अपना ही कमरा तेरे लिए

ख़ाली किए देती हूँ, मैं बुढ़िया बावली किसी कोठरी में पड़ रहूँगी।"

मैंने आकाश छुआ। कब शाम हो और मैं बाज़ार चलूँ। निदान एक ही सप्ताह में मेरा कमरा घर-भर में इन्द्रभवन था। मैं रात-दिन उसकी सजावट में लगी रही, खाना-पीना भी छोड़ दिया, साथ वालियाँ दिल्लगी करती थीं, पर मैं समझती न थी। कभी-कभी उनकी बातों से भय-सा लगता था, उनका क्रूर-हास्य शङ्का उत्पन्न करता था—मानों इस साज-शृङ्गार में एक रहस्य है, पर मैं उमङ्ग में थी।

देखते-देखते मेरा रङ्ग बदल गया। जितने छैले घर में आते थे, मुझ पर टूटे, पर मौसी का बड़ा भय था। क्या मजाल जो ज़रा कोई बढ़ कर बातें करता! साथ वालियों पर मुझे डाह थी, पर अब वे मुझ पर जलती थीं, भेद तो अभी खुला न था, पर मुझे इसमें मज़ा आता था ज़रूर!

उस दिन से छठे दिन की बात है। मैं सो रही थी, दिन ढल चुका था, मौसी ने बुला कर कहा—"बेटी, नहा-धोकर नई साड़ी पहन ले, बालों का अङ्गरेज़ी जूड़ा बाँध ले, पैरिस की ज़रीकट साड़ी पहन ले, और ज़रा सलीक़े का ध्यान रख। ख़बरदार, नादानी न करना।" मैं कुछ समझी, कुछ नहीं—चली आई। मन में उथल-पुथल मच गई, नहीं कह सकती भय से या आनन्द से।

रात सिर पर आ गई और मेरा सिङ्गार खतम ही न होता था। १० बजे एक अल्पवयस्क सुन्दर कुमार ने मेरे कमरे में प्रवेश किया, मैंने इन्हें कभी न देखा था। एकान्त में मेरे पास किसी पुरुष का आना प्रथम बात थी, पर बहुत सी बातें तो मैं देख-भाल कर ही समझ गई थी। फिर भी मैं डर गई, मैंने सहम कर उनसे कहा—"मौसी उधर हैं, आप वहाँ जाइए।"

उन्होंने हँस कर कहा—"जल्दी क्या है, ज़रा देर आपसे भी बातें कर लूँ?" अब मैं क्या कहती? चुप बैठ गई!

उन्होंने कहा—क्या आप नाराज़ हो गईं?

"जी नहीं।"

"फिर चुप्पी क्यों?"

"आप कुछ दर्याफ़्त करें तो जवाब दूँ।"

बस बातों का सिलसिला चल गया, और क्या-क्या हुआ, वह सब कहने से फ़ायदा? सबका अभिप्राय यही है कि अन्त में मैं उस युवक के हाथ बिकी, उसने मुझे सब कुछ दिया और मैंने उसे भी! मैं वेश्या थी भी नहीं, और उसकी वृत्ति को समझती भी न थी! मेरा जीवन था, आयु थी, समय था और उसका प्रभाव था, मैं क्या करती? मैंने अपना तन, मन, धन उसे दिया, और उसने? मैंने जो आज तक न पाया था, वह दिया। उस दान के

सम्मुख अब तक के सभी ठाठ तुच्छ थे। मैं नारी-जीवन का रहस्य समझी, पर यहीं तक होता तो मेरे बराबर सुखी कौन था? पर मेरी तक़दीर में वेश्या-जीवन का रहस्य समझना लिखा था !!

× × ×

एक महीना स्वप्न की तरह बीत गया। ज्यों-ज्यों महीना बीतता था, वे चिन्तित और उदास होते थे। मैं पूछती, पर वे बताते नहीं, टाल जाते! एक दिन मैंने उन्हें घेर लिया। उन्होंने कह दिया—सिर्फ़ ३ दिन और मुझे तुम पर अधिकार है आनन्दी? इसके बाद तुम मेरे लिए ग़ैर हो जाओगी।

"यह क्या बात है?"

"मैं तुम्हारे लिए अगले महीने की तनख़ाह नहीं जुटा सकता।"

"तनख़ाह कैसी?"

"३ हज़ार रुपए महीने पर मैंने तुम्हें तुम्हारी माँ से लिया था।"

"आह! क्या मैं गाय-भैंस की तरह बेची गई हूँ!"

"ऐसा होता तो फिर बात क्या थी? मैं तुम्हें ऐसी जगह ले जाता, जहाँ किसी की दृष्टि न जाती, पर तुम किराए पर उठाई गई हो, मैंने एक महीने का किराया दिया, अब जो देगा, वह मेरे स्थान पर होगा।"

"मैं तड़प उठी, यह कैसे सम्भव है ? मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, क्या तुम नहीं करते ?"

"जान से बढ़ कर।"

"फिर हमारे बीच में कौन है ?"

"रुपया !"

"मैं उस पर लात मारती हूँ।"

"पर तुम्हारी मौसी तो उस पर मरती हैं।"

"मैं उससे कहूँगी।"

"बेसूद है।"

"क्या तुमने कहा था ?"

"मैं १ हज़ार देने को तैयार हूँ।"

"यह क्या थोड़े हैं ?"

"वे कहती हैं—एक हज़ार माहवारी आनन्दी की जूतियों का खर्च है।"

"पर मैं तो अपना शरीर और जान तुम्हें दे चुकी।"

"इसका तुम्हें अधिकार नहीं।"

मैं रोने लगी, वे चले गए।

मैं रात भर रोती रही ; मेरी आँखें फूल गईं और छाती फटने लगी। सुबह होते ही मौसी ने कहा—बेटी, आज तुझे एक मुजरे पर जाना है, सब सामान तैयार करके लैस हो जाना।

जो कहना चाहती थी, न कह सकी। सोचा लौट कर कहूँगी।

४

मेरा नाम हीरा है, बस इतना ही समझ लीजिए। मैं और कुछ नहीं बता सकती। समझ लीजिए मैं धरती फोड़ कर पैदा हुई और धरती में समा जाने की इच्छा से जी रही हूँ। हज़ारों मनुष्यों ने मेरे शरीर को देखा, बलात्कार किया और होनी-अनहोनी सब हुई। इनमें राजा-महाराजाओं से लेकर, घृणास्पद कलङ्की और रोगी भी थे—सभी ने एक ठीकरे में खाया। लोग कहते हैं कि मैंने रूप पाया और यह भी कहते हैं कि उसे ख़ूब बेचा। पर मुझे सब कुछ बेच-खरीद कर मिला क्या? इस अभागिनी के मन की बात कौन सुनेगा? कौन इस पर आँसू बहाएगा, जगत् में मेरा सगा है कौन?

फूल के कीड़ों का नाम बहुतों ने सुना होगा, पर उस ज़हरीले कीड़े ने खाया मुझे! हाय, दुनिया कैसी प्यारी थी, कैसा साज-शृङ्गार, वस्त्र, सुगन्ध, मौज-बहार, हास्य, उन सबको अब याद करती हूँ—वे सब कहाँ चली गईं, स्वप्न की माया की तरह!!

स्त्री क्या वस्तु है, यह मुझे आज मालूम हुआ, जब मैंने स्त्रीत्व खो दिया! धर्म मेरा साक्षी है। मैंने रूप को बेचा नहीं, मैंने उसका मोल न कभी जाना, न किया, अभागिनी

सीधी-सादी बालिका अपने रूप को कितना देखती—देखने वाले देखते हैं यही कैसे समझती, यही तो मरने की बात हो गई। मैं जब तक बच्ची रही—तब तक की तो बात ही जाने दीजिए। पर दिल्ली आने पर ? न माँ थी, न बाप था, भाई था—वह भी चला गया। पर जो थी, वह माँ से भी ज्यादा सगी, स्वयं हाथों से नहलाती, उबटन लगाती, सुगन्ध लगाती, गजरों से सजाती और मोटर में बैठा कर सैर कराती ! तब कौन मेरे बराबर सुखी था—मुझे कुछ काम न था। उस्ताद जी आते, उनकी सफ़ेद दाढ़ी, भद्दी सी मोटी ऐनक और मीठी-मीठी बोली, कैसी प्यारी थी। वे गाना सिखाते, मैं विनोद से उनके गले की नक़ल करती। वह इतनी ठीक उतरती कि रास्ते चलते खड़े हो जाते। मैं इतराती थी, उत्तम से उत्तम भोजन-वस्त्र बिना माँगे हाज़िर थे। मैं बड़ी हुई, तीसरे पहर से ही उबटन-शृङ्गार, केश-विन्यास और नई साड़ियों की पसन्द और पहनने का जो उपक्रम चलता तो दिए जल जाते। इत्र से भभकते हुए उस कमरे में नर्म क़ालीन पर मैं इठला कर बैठती। बड़े-बड़े सेठों के जवान आते, मेरी स्वर-लहरी पर लोट जाते, रुपयों की बौछार करते। जब आधी रात बीतने पर झोली भर रुपए ले मैं नई माँ को देती तो वह छाती से लगा लेती। बारम्बार बेटी कहतीं, मैं ज़रा भी थकान न मानती, पड़ कर जो सोती तो प्रभात था।

हाय ! मैं समझती थी—यह सब मेरा आदर है, यह गायन-कला मेरा गुण है, उस पर सैकड़ों गुणज्ञ रीझ रहे हैं। पर यह भेद तो पीछे खुला, वह मेरा नहीं, मेरे शरीर का, रूप का आदर था। वह गायन तो एक बहाना, एक छल था, एक तीर था, जिससे शिकार मारे जाते थे। मेरी अज्ञानावस्था में कितने शिकार मारे गए, यह मैं अब क्या बताऊँ।

उस दिन कोई त्योहार था, शायद तीज थी, मैं नहा कर बैठी थी। मेरी एक सहेली ने मुझे बुला भेजा था। मैं जाने की तैयारी में थी कि माँ ने बुलाया, कहा—बेटी, वह जो नई बनारसी साड़ी आई है, पहन लो। आज तेरी तक़दीर का सितारा बुलन्द हुआ, महाराज×××ने तुझे नौकर रख लिया है। तुझे वहाँ जाना है, अभी मोटर आ रही है। मैंने चाहा था कि तुझे रानी बना दूँगी, वह इच्छा पूरी हुई, अब देर न कर।

मैं ख़ाक-पत्थर कुछ भी न समझी। रानी बनने की बात को कुछ समझी, रानी बनने में मुझे क्या उज्र था, पर नौकरी का क्या मतलब ? मैंने पूछा—नौकर रखने से क्या मतलब ? मैं किसी की नौकरी न करूँगी ! वाह ! अब मैं झाड़ू लगाऊँगी और किसी की नौकरी न करूँगी।

बुढ़िया हँस पड़ी, हँसते-हँसते लोट गई, उसने मुझे गोद में छिपा कर कहा—मेरी प्यारी बेटी, कैसी नादान

है। धीरे-धीरे सब समझेगी। झाड़ू तू लगावेगी ? वहाँ २० दासी तेरी खिदमत करेंगी।

मैं समझ ही न सकी, पर मुझे आनन्द न आया। मैं भय और चिन्ता में पड़ गई, वहाँ मेरा है कौन ? मुझे कौन प्यार करेगा, कौन क्या करेगा, मैं बेचैन हो गई। मैं मूर्खा, इस वृद्धा को ही अपना सब से बड़ा हितू समझती थी। जहाँ गई वहाँ फाटक पर पहुँचते ही मेरे होश उड़ गए। ऐसी बड़ी कोठी, ऐसा सुन्दर बागीचा, जन्म में न देखा था। गाड़ी पहुँचते ही सङ्गीनधारी सिपाही ने गाड़ी रोक कर पूछा – गाड़ी में कौन है ?

मौसी ने कुछ कान में कह दिया, वह रास्ता छोड़ कर खड़ा हो गया।

गाड़ी धड़धड़ाती चली। फव्वारे उछल रहे थे, रौसें अत्यन्त सुघड़ाई से कटी थीं और उनमें कटोरे के बराबर गुलाब खिल रहे थे। सुन्दर साफ़ सुर्ख सड़कें और सामने वह महासुन्दर धवल प्रासाद। वहाँ पहुँचते ही दो सन्तरियों ने हमें उतारा, तमाम मकान सङ्गमर्मर से मढ़ा था, मक्खी के भी पैर रपटें। मैं डरती-डरती पैर रखती, दीवारों और तस्वीरों को देखती, अचल खड़े सन्तरियों को घूरती चली जा रही थी। चलने तक की आहट न होती थी, सोच रही थी कि हे ईश्वर ! इस महल में रहने वाला कौन भाग्यवान है।

एक सजे हुए कमरे में हमें बैठा कर, सन्तरी चला गया। उसमें मख़मल का हाथ भर मोटा गद्दा पड़ा था, और साटन के पर्दे दरवाज़े पर थे। गद्देदार कुर्सियाँ, कौच और एक से एक बढ़ कर सजावट और तस्वीर, क्या-क्या बयान करूँ ? मैं पागल सी बैठी देख रही थी ; हृदय धक्-धक् कर रहा था। बोलना चाहा, पर मौसी ने होंठ पर उँगली रख कर चुप रहने का सङ्केत कर दिया।

थोड़ी देर में एक पहरेदार ने धीरे से पर्दा उठा कर, हमें अपने पीछे-पीछे आने का सङ्केत किया। कई बड़े-बड़े दालान, कमरे पार करती हुई हम अन्त में एक निहायत ख़ुशरङ्ग सजे एक बड़े कमरे में पहुँचीं। देखा, एक ३० साला उम्र के अत्यन्त रुआबदार रूप और तेज की खान, एक पुरुष बैठे चुपचाप धुआँ फेंक रहे हैं। मौसी ने ज़मीन तक झुक कर सलाम किया और मैंने भी। हाथ का सिगार एक ओर फेंक कर महाराज उठ खड़े हुए। उन्होंने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मौसी का हाथ पकड़ कर बैठाया, फिर मुस्करा कर मेरा मिज़ाज पूछा।

मैं तो सकते की हालत में थी। मौसी ने फटकार कर कहा—बेवक़ूफ़, सरकार मिज़ाज पूछते हैं और तू चुप है।

वे हँस दिए और बोले—हीरा यही है न ?

"यही हुज़ूर की कनीज़ है ?"

"सच, पर देखना धोखा तो नहीं देती ?"

"अय हय हुजूर, मेरी जबान टूट जाय ?"

"अच्छा मिस हीरा, क्या तुम सिगरेट पीती हो ?"

"जी नहीं सरकार !"

"अच्छा तब कुछ खाओ-पियो !"—इतना कह कर उन्होंने घण्टी बजा दी। नौकर दस्तबस्ता आ हाजिर हुआ। उसे कुछ इशारा करके, उन्होंने मौसी का हाथ पकड़ कर कहा—"जब तक यह कुछ खाए-पिए, हम लोग काम की बातें कर लें।"

वे दोनों दूसरे कमरे में चले गए, और नौकरों ने फल, बिस्कुट, मेवा मेरे सामने ला रक्खा। पर मैंने छुआ भी नहीं। मैं भयभीत हो गई थी, मैं समझ गई कि यहाँ फँसी। हाय ! हृदय के एक कोने में नवाङ्कुरित प्रेम विकल हो उठा। पर करती क्या ? मैंने निश्चय किया—मैं अवश्य मौसी के साथ जाऊँगी ? हठात् महाराज ने कमरे में प्रवेश करके कहा—अरे ! तुमने तो कुछ खाया ही नहीं।

"जी, मेरी तबियत नहीं है, क्या मौसी अन्दर हैं ?"

"वे गईं।"

"और मैं ?"

"तुम्हें यहीं आराम करना है।"—वे मुस्कुरा कर बोले—"क्या तुम्हें डर लगता है ?"

"जी नहीं।"

"यह जगह पसन्द नहीं ?"

"जगह के क्या कहने हैं।"

"मैं पसन्द नहीं ?"

"सरकार क्या फ़र्माते हैं, मैं शर्मा गई।"

एक आदमी शराब, प्यालियाँ, कुछ और खाने की चीजें चुन गया। महाराज ने प्याला भर कर कहा—"मिस हीरा, परहेज़ तो नहीं करतीं ? करोगी तो भी पीना तो पड़ेगा ?"

"हुज़ूर, मैं नहीं पीती।"

"मगर मेरा हुक्म है ?"

"मैं मुआफ़ी चाहती हूँ।"

"क्या हुक्मउदूली करती हो ?"

"मेरी इतनी मजाल।"

"बेवक़ूफ़ औरत पी !"—क्षण भर में उनकी आँखें लाल हो गईं और त्योरियाँ चढ़ गईं।

"मैं न पी सकूँगी ?"

खूँटी से चाबुक उठा कर उस निर्दयी ने खाल उड़ाना शुरू कर दिया। मेरे चिल्लाने से कमरा गूँज उठा। मैं तड़प कर धरती में लोटने लगी। पर वहाँ बचाने वाला कौन था ?

वे चाबुक फेंक कर बैठ गए। मैं ज्योंही उठी, उन्होंने प्याला भर कर कहा—पियो !

"मैं गटगट पी गई।"

मेरे हाथ से प्याला लेकर उन्होंने मेरे पास आकर कहा—"हीरा, मेरी दोस्त ! आइन्दा कभी हुक्मउदूली की हिम्मत न करना। अरे, क्या तुम्हारी साड़ी भी ख़राब हो गई।" इतना कह उन्होंने घण्टी बजाई, एक लड़का आ हाज़िर हुआ। उसे हुक्म दिया—"जाओ ड्योढ़ियों से उम्दा साड़ी ले आओ।"

साड़ी आई। उसकी क़ीमत २ हज़ार से कम न होगी। वैसी साड़ी मैंने कभी न देखी थी। मैं अवाक् रह गई। ऐसा बेढब आदमी तो देखा न सुना। मैं साड़ी बदल कर चुपचाप उसके हुक्म की इन्तज़ारी करने लगी। मेरा ग़रूर और सारी चञ्चलता न जाने कहाँ चली गई।

उन्होंने निकट आकर प्यार के स्वर में कहा—जाओ उस कमरे में सो रहो, मैं भी ज़रा सोऊँगा। किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो घण्टी देना, नौकर हुक्म बजा लावेगा।

हाय ! क्या मैं सोई ? वह पुरुष सो गया और मैं उसके पैर पकड़े बैठी रही। रात बीतने लगी, निस्तब्धता छा गई। हाँ, मैं पैर पकड़े बैठी थी, उस पुरुष के, जो इतना कठोर और इतना उदार, ऐसा मस्त और ऐसा ज़िद्दी है। और तस्वीर देख रही हूँ किसी और की, जिसे मैंने कुछ दिन पूर्व शरीर अर्पण किया था। मेरा हृदय और प्रेम आवारा-गर्द बेघर-बार पुरुष की तरह भटक रहा था। वेश्यावृत्ति का जटिल रहस्य अब मेरी समझ में आया।

कई घण्टे व्यतीत हो गए। वे एकाएक उठ बैठे। उन्होंने कहा—बेवक़ूफ़ लड़की! क्या तू सचमुच वेश्या नहीं है? तेरे पास हृदय है? तू प्रेम करना जानती है?

मेरे जवाब से प्रथम ही उन्होंने मुझे उठा कर हृदय से लगा लिया। हाय! यह पापिष्ट शरीर यहाँ भी अर्पण करना पड़ा। पर मैं लज्जा से अपने आपको भी नहीं देख सकती थी।

कह ही दूँ, बिना कहे तो चलेगा नहीं; वैसा सुन्दर आदमी नहीं देखा था। रङ्ग गुलाब के समान, दाँत जैसे मोती की लड़ी, हास्य जैसे चाँदनी की बहार—मैं देखती रह गई, यही महाराज थे। उन्होंने पास बुलाया, प्यार से बग़ल में बैठाया, क्या-क्या किया, क्या-क्या कहा, वह सब बड़ी कठिनाई से भुलाया है, अब याद क्यों करूँ?

मैंने समझा था, मैं नौकर हूँ, पर मैं थी रानी! नौकर थे राजा साहब! वे कितना प्यार करते थे, कितना लाड़ करते थे—मैं क्या होश में थी, जो समझ सकती। पुरुष स्त्री जाति को कब क्या देता है; पुरुष स्त्री-जाति को किस तरह सुख देता है, यह केवल वह स्त्री ही जान सकती है, जिसने वैसा सुन्दर, उदार, दाता, दयालु पुरुष पाया हो। मैं कृतार्थ हो गई, मैं धन्य हुई, मुझे अब कुछ न चाहिए था। मेरे पास रूप था, यौवन था, शरीर था, मन था, आत्मा थी, प्रेम था, हृदय था—सभी मैंने उन्हें दे दिया,

और उन्होंने जो देना चाहा, रुपया-पैसा, वस्त्र, रत्न—सभी मैंने तुच्छ समझा। मैंने एक बार तो निर्लज्ज होकर कह दिया था—"यह सब क्यों करते हो, तुम्हीं जब मुझे प्राप्त हो, फिर और कुछ मुझे क्या चाहिए।" वे हँसते थे। मेरे वे दिन हवा की तरह उड़ गए, मुझ मूर्ख ने यह समझा ही नहीं कि यह सब कुछ मेरे लिए नहीं, मेरे रूप के लिए है। और मैं स्त्री नहीं, वेश्या हूँ ? इस वेश्यापन और रूप ही ने तो मुझे चौपट किया !!

५

यह विधाता की भूल है कि वह वेश्या है, अगर महारानी रूप और गुण में इससे शतांश भी होतीं, तो कदाचित जगत की जूठी पत्तल चाटने की ज़िल्लत में न पड़ता। लाखों मनुष्यों के सामने मैं राजा और महाराज हूँ, पर इस औरत के सामने आज एक कुत्ता, जो अपनी नीच स्वाद-वृत्तियों की तृप्ति के लिए सदा उन्मत्त रहता हो। वह जिस दिन आई तभी से मैंने उसे समझा। एक अफ़सोस तो यह है कि वह वेश्या है, दूसरा अफ़सोस यह कि वह यह बात अभी तक नहीं जानती। नारी-हृदय का नैसर्गिक प्रेम उसके पास अछूता था, वह उसने राई-रत्ती मुझे दिया ; पर इससे फ़ायदा ? वह मुझे वही समझती है, जो लाखों-करोड़ों स्त्रियाँ पुरुष प्राप्त करके समझती रही हैं, पर मैं तो यह जानता हूँ कि वह वेश्या है। उसकी माँ

ने मासिक वेतन लेकर उस काल के लिए उसके शरीर पर मुझे अधिकार करने दिया है, जब तक मैं वेतन देता रहूँ। वह आत्मदान कर चुकी, यह तो सत्य है, पर इससे होता क्या है ? इस अधिकार और पद्धति-शून्य असामाजिक आत्मदान को मैं क्या करूँ ? क्या मैं खुल्लमखुल्ला उसे पत्नी कहने का साहस करूँ ? सारे अखबार हाय-तोबा मचा कर धरती-आसमान उठा लेंगे ? सरकार की आँखें नीली-पीली अलग हो जावेंगी ? और सरदार, अफ़सर, परिजन दम निकाल देंगे। वह रानी बनने योग्य है ; उसके रानी बनने से उसकी नहीं, महल की शोभा है। परन्तु इस बात को तो देखिए कि यह व्यभिचार और रूप का क्रय-विक्रय तो सब अन्धे और बहरों की तरह देख-सुन रहे हैं, पर इस पाप को नीति और नियम के रूप में संसार नहीं देखना चाहता। फिर मैं क्यों इज़्ज़त लूँ ? मैं राजा हूँ, युवा हूँ, सुन्दर हूँ, धनी हूँ, मैं ऐसे-ऐसे सौन्दर्य नित्य खरीदने में समर्थ हूँ। मैं अपना यह स्वार्थ-अधिकार क्यों त्यागूँ ? कठोरता हाँ, यह कठोरता और निष्ठुरता तो है, परन्तु राजा बन कर मनुष्य को कितना कठोर बनना पड़ता है। राज्य-व्यवस्था क़ायम करने के लिए कठोरता गुण है, यदि मैं आत्म-सुख और शरीर-भोग के लिए भी ज़रा निष्ठुर बनूँ तो कुछ हर्ज है ? मैं उसे ठग नहीं रहा, मुआविज़ा दे रहा हूँ, इतना और उसे मिलेगा कहाँ ? वह वेश्या है, जब तक उसमें रस है,

मैं भरपूर मोल देकर लूँगा, पीऊँगा, बखेरूँगा, जब जी में आवेगा फेंक दूँगा। अजी ! यह स्त्री-जाति ही तो है ? सर्दी की धूप की तरह यह स्त्री-यौवन ढलता है। पुरुष होकर, सुयोग पाकर मैं क्यों सुप्राप्त यौवनों को छोड़ूँ ? यह धन, राजसत्ता फिर किस काम आवेगी ? अन्ततः हमारा राजापन किस योग्य होगा ? पूर्वकाल के राजागण युद्ध करते थे; जीवन, मृत्यु सदा उनके सम्मुख थी ; देश के चुने हुए विद्वान उनके मन्त्री सदा उनके पास रहते थे। अब यह सब काम तो प्रबल प्रतापी हमारी दयालु सरकार कर रही है, हमें छुट्टी है। इस जीवन भर के अवकाश में यदि हम जी भर कर यौवन और भोग को, जो धन से प्राप्त हो सकता है, न भोगें तो हमारे बराबर अहमक़ कौन ?

वह वेश्या है, वेश्या रहे ; यह बात उसे समझ रखनी चाहिए। वह स्त्री नहीं बनी रह सकती, पुरुष से स्त्री को जो प्रतिदान वास्तव में मिलना चाहिए, वह उसे नहीं मिलेगा। जब तक वह यौवन के उभार पर है, वह मेरी है, मेरा सारा राज्य उसके पैरों में है। इसके बाद ? इसके बाद भी चिन्ता क्या है ? वह इतना सञ्चित कर लेगी कि जन्म भर को काफ़ी होगा !

६

नख-शिख से शृङ्गार किए वेश्या के सामने आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे बेवक़ूफ़ और बेग़ैरत नौजवान कुत्ते

दुम हिला-हिला कर जो प्रेम और आदर प्रकट करते हैं, वही क्या वेश्या का सम्मान है ? वेश्या की असलियत तो उसके 'वेश्या' शब्द में ही है। वह रज़ील, अछूत और भले घर की बहू-बेटियों के देखने की वस्तु भी तो नहीं। वे शरीफ़ज़ादे रईस और राजा, जो समय पर जूतियाँ उठाते और जूतियाँ खाते हैं—यह तो सहन ही नहीं कर सकते कि कभी सामना होने पर भी अपनी घरवालियों से हमारा परिचय तक तो करा दें। अपनी रज़ील हैसियत हम समझती हैं, हमारे हीरे-मोती, महल-पलँग, मसहरी, मोटर, धन—कोई भी हमारी इस रज़ील हैसियत से हमारी रक्षा नहीं कर सकता। हाय ! वेश्या के हृदय को छोड़ कर, और कौन स्त्री-हृदय इस भयानक अपमान की धधकती आग को हँस कर सह सकता है।

उस दिन मेंह बरस रहा था, भयानक अँधेरा था, राजमहल स्टेशन से दूर न था, परन्तु महाराज शिकार खेलने वहाँ से १८ मील के फ़ासले पर गए थे। उनके अङ्गरेज़ दोस्त आए थे, वहीं उनकी दावत और जशन का नाच-रङ्ग था। दर्जन भर वेश्याएँ उसमें बुलाई गई थीं, मैं अभागिनी भी उनमें एक थी, मेरे नाच और गाने की ख्याति ने ही मुझे इस विपत्ति में डाला था, पर मैं करती भी क्या। वेश्या पर उसकी कुटनी माँ का असाध्य अधिकार होता है। मेरा शरीर अच्छा न था, मैं दो साइयाँ बजा कर

आई थी, थकी थी, सर्दी-जुकाम भी था, पर मुझे आना ही पड़ा। चार सौ रुपए रोज़ की फ़ीस छोड़ी भी कैसे जाती ? सारी नवाबी तो उसी के पीछे थी। अँधेरी रात और १० मील का सफ़र ! १०-१२ हम बदनसीब औरतें और हमारे मिरासी नौकर। साथ के लिए ४ प्यादे सिपाही और सामान लादने की एक बेगार में पकड़ी हुई बैलगाड़ी और दो लद्दू टट्टू। बस, यह हमारे स्वागत का प्रबन्ध उपस्थित था। क्या ये कमीने राजा अपनी रानियों के लिए भी ऐसा ही स्वागत करने की हिम्मत कर सकते हैं ? पर रानियों से हमारी निस्बत ही क्या ?

सिपाहियों ने कहा—"बेगार में और कुछ मिला ही नहीं, सामान गाड़ी और टट्टू पर तथा हमें पैदल चलना होगा।" मैं तो धम से बैठ गई। इस अँधेरी रात में, बरसात के समय १० मील पैदल चलने से मैंने मरना ठीक समझा। मैंने साफ़ इनकार कर दिया। सिपाहियों ने फ़बतियाँ उड़ाईं ! अन्त को एक टट्टू पहिले मुझे दे दिया गया। मैंने उसे ही ग़नीमत समझा।

हम भाग्यहीनों की इस ठाट की सवारी चली, जिन्हें वहाँ पहुँचते ही अपनी चमक-दमक, रूप और नख़रों से उन भेड़िए रईसों और उनके कमीने मेहमानों को पागल बनाना था। मैं चुपचाप टट्टू पर कम्बल ओढ़े बैठी थी, कमर टूटी जाती थी, और मैं गिरी जाती थी। पानी का

छींटा बीच-बीच में गिर जाता था, पर मैं जानती थी कि वहाँ पहुँच कर मुझे बहुत मिहनत करनी है, आराम इस नसीब में कहाँ ?

तीन घण्टे सफ़र करके हम वहाँ पहुँचे। पहुँचते ही पता लगा, महाराज और पार्टी कड़ी प्रतीक्षा कर रहे हैं, हमें तत्काल ही पेश्वाज़ पहन कर महफ़िल में पहुँचना चाहिए। मैंने अधमरी सी होकर साथ की वेश्या से कहा—"अब इस समय तो मुझसे एक पग भी न उठाया जायगा।" उसने कहा—"बेवक़ूफ़ हुई है, जल्दी कर, ऐसा कहीं होता है।" उसने जल्दी-जल्दी दो-तीन पैग शराब पिलाई।

ओह ! मुझे सजना पड़ा, मेरा अङ्ग-अङ्ग टूट रहा था, मैं मरी जाती थी, मुझे ज्वर चढ़ रहा था, पर मेरे पास मिनट-मिनट पर सन्देश आ रहे थे। हीरा प्रथम ही से महाराज के पास थी, उसने कहला भेजा—आनन्दी जल्दी कर, सभी लोग तेरा नाम रट रहे हैं। मेरा शृङ्गार हुआ, जड़ाऊ गहने, ज़री की पेश्वाज़, मोतियों के दस्त-बन्द और जड़ाऊ पेटी कस कर, इत्र और सेण्ट से तर-बतर हो, पाउडर से लैस हो दो पैरा चढ़ा कर मैं छमाछम करती महफ़िल में पहुँची। मैं क्या पहुँची, बिजली गिरी—लोग तड़फ़ गए। हाय-हाय से महफ़िल गूँज गई, महाराज पागल हो रहे थे और दोस्त लोग उछल रहे थे। फूलों के गुलदस्ते

मुझ पर बरस रहे थे, वाह-वाह का तार बँधा था। क्षण-क्षण पर हरी, लाल, नीली बिजली की रौशनी पड़ कर मुझे अमूर्ति मूर्ति बना रही थी। पर मेरा सिर दर्द से फटा जाता था, और जी मिचला रहा था, पर मैं मुस्करा कर छमाछम नाच रही थी। कहरवे की ठुमकी लेकर मैंने विहाग का एक टप्पा छेड़ा, साज़िन्दे उसे ले उड़े। महफ़िल में सकते की हालत हो रही थी, तालियों की गड़गड़ाहट की हद न थी, नोट और गिन्नियों का मेंह बरस गया, पर मैं मानों मूर्च्छित होने लगी, मुझे क़ै आने लगी थी और मैं अपने को अब क़ाबू न कर सकती थी। मैंने रौशनी वाले को आँख से एक सङ्केत किया। एक बार झुक कर महफ़िल को सलाम किया और भागी। महफ़िल में तालियाँ गड़गड़ा रही थीं। 'वन्स मोर' का शोर आसमान को चीरे डालता था। उधर मैं एक ज़ोर की क़ै करके बेहोश हो गई थी।

७

मैं कब तक उस दशा में पड़ी रही, नहीं कह सकती। किसी ने झकझोर कर जगाया। आँख खोल कर देखा, हीरा है। मैं उसे देखते ही उससे लिपट गई। ध्यान से देखते ही मुझे मालूम हुआ, हीरा का वह रूप-रङ्ग उड़ गया है। वह पीली पड़ गई है और उसकी उन सुन्दर आँखों के चारों ओर नीले दाग़ पड़ गए हैं, गले की हड्डियाँ निकल आई हैं। उसे मैं देखती ही रह गई। वह मुझे इस

प्रकार अपनी ओर देखते देख कर हँस पड़ी। हाय! वह हास्य भी कितना रूखा था! कौन हीरा के उस हास्य से सुखी होता? पर मेरे मुँह से बात न निकली। मैं नीची दृष्टि किए कुछ सोचने लगी।

हीरा ने कहा—उठ-उठ आनन्दी! जल्दी कर, तुझे महाराज ने याद फ़र्माया है।

उसके होठ काँप गए, स्वर भी विकृत हो गया। मैं भी डर गई। मैंने कहा—यह किसी तरह सम्भव नहीं हो सकता। क्या मैं इस समय महाराजा के पास जाने के योग्य हूँ?

"इस बात से क्या बहस है? तुझे चलना तो पड़ेगा ही।"

"मैं हर्गिज न जाऊँगी।"

उसने प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरा, पुचकारा और कहा—बेवक़ूफ़ी न कर, यह रियासत है, अपना घर नहीं, महाराज की हुक्मउदूली की सज़ा तुझे मालूम नहीं?

"क्या मार डालेंगे?"

"यह तो कुछ सज़ा ही न थी?"

"तब?"—मैंने शङ्कित स्वर से पूछा।

"ईश्वर न करे कि तुझे फ़ज़ीहत उठानी पड़े। मेरी प्रार्थना यही है कि उनकी इच्छा में दख़ल न देना, इसी में ख़ैर है।"

इतना कह कर उसने मुझे उठाया। पर मैं उठ सकती ही न थी। किसी तरह उसने उठाया। अपनी एक बढ़िया साड़ी मुझे पहना दी, बालों का शृङ्गार कर दिया और कुछ अदब-क़ायदे की बातें समझा कर ड्योढ़ियों तक पहुँचा आई। मैंने देखा, उसने मुँह फेर कर आँसू पोंछ लिए।

मेरा शरीर वास्तव में क़ाबू में न था, मैं सँभल ही न सकी, बदहवास की तरह महाराज के सामने गिर गई। वहाँ क्या हो रहा था, वह सब मैं देख न सकी। मेरे होश-हवास दुरुस्त न थे, पर वहाँ सभी लुच्चे-लुङ्गाड़े, नीच, शराबी इकट्ठे थे। वे नर-राक्षस और पिशाच थे। वे शराब पी-पीकर पशु हो गए थे। उन्होंने लज्जा बेच खाई थी। मुझ पर जैसी बीती, वह मैं वेश्या होकर भी वर्णन नहीं कर सकती। जगत का कोई भी ख़ूँख़ार पशु किसी अबला स्त्री पर इतना अत्याचार न कर सकेगा। ज्वर से जलती हुई, थकी हुई, मुझ बदहवास ग़रीब असहाय स्त्री के साथ उन कुत्तों ने क्या-क्या करने और न करने योग्य न किया? सारा संसार यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि मुझ पर जो बीती और मैंने जो देखा, वह सम्भव भी हो सकता है, पर मेरे साथ तो वह हुआ। जब तक मैं होश में रही और मेरे शरीर में बल रहा, मैंने उन भेड़ियों को रोका। प्रतिकार किया, परन्तु मैं शीघ्र ही बदहवास हो गई और मैं उसी

अवस्था में डोली पर लाद कर दिन निकलने से पूर्व ही दिल्ली को रवाना कर दी गई।

८

सेकिण्ड क्लास ने जनाने डब्बे में मैं अकेली थी, मैंने सब खिड़कियाँ खुलवा दी थीं। सुबह की ठण्ढी-ठण्ढी हवा से मेरी तबीयत हलकी हुई, पर रात जो मुझ पर अत्याचार हुआ था वह असाधारण था; पर मैं जानती हूँ कि जगत के मर्द इससे क्षुभित न होंगे। वेश्या के बाहरी स्वरूप को सभी देखते हैं, वह भीतरी रूप तो हम स्वयं ही देखती हैं। मैं ज़रा उठ कर देखने लगी, रेल की पटरी के बराबर ही बराबर सड़क थी, उस पर एक मोटर तेज़ी से दौड़ी चली आ रही थी। मोटर गाड़ी से दौड़ लगा रही थी। मुझे कौतूहल हुआ, मैं एकटक उसे देखने लगी। मैंने देखा, एक स्त्री उसमें बैठी बड़ी बेचैनी से गाड़ी को देख रही है। स्टेशन आया, गाड़ी खड़ी हुई और वह स्त्री घबराई हुई स्टेशन में घुस आई। एक कर्मचारी उसे मेरे डब्बे में बैठा गया। डब्बे में बैठते ही वह हाँफने लगी और दोनों हाथों से मुँह ढँक कर बैठ गई। गाड़ी के चलते ही मैंने उसके पास जाकर कहा—"आपको कुछ तकलीफ़ है क्या?" उसने चौंक कर देखा और मुझे देख कर ज़ोर से मेरा हाथ पकड़ कर कहा—"कुछ नहीं, ईश्वर का धन्यवाद है कि मेरी इज्ज़त बच गई। तुम कहाँ जा रही हो?"

मैंने कहा—दिल्ली !

"मैं भी वहीं जा रही हूँ। तुम्हारा घर किस मुहल्ले में है और तुम्हारे पति क्या काम करते हैं ?"

मैं क्या जवाब देती, मैं चुपचाप खड़ी रही। कुछ सम्हल कर मैंने कहा—आपको कुछ मदद चाहिए, वह मैं कर सकूँगी। आप कहिए।

"मैं तुम्हारे यहाँ कुछ घण्टे ठहरना चाहती हूँ और अपने पति को तार-द्वारा सूचना देना चाहती हूँ। क्या तुम मेरे लिए इतना कष्ट करोगी ?"

"जरूर, परन्तु × × ×" मैं फिर चुप हो गई।

"परन्तु क्या ?"—उसने घबरा कर कहा।

"मैं तवायफ़ हूँ, शायद आपको मेरे घर चलना पसन्द न हो।"—वह स्त्री इस तरह चमकी, जैसे बिच्छू ने डङ्क मारा हो। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया, मैं अपनी जगह आ बैठी। कुछ देर सन्नाटा रहा, आत्म-ग्लानि के मारे मैं मर रही थी।

उस स्त्री ने पूछा—कहाँ से आ रही हो ?

"महाराज × × × की महफ़िल से।"

उसने घृणा और क्रोध से मेरी ओर देखा, उसने होठ काट कर कहा—उस हरामज़ादे को मैं मच्छर की तरह मसल डालूँगी, उसने मुझे भी तुम जैसी ही रण्डी समझा होगा।

मेरे कलेजे में तीर लगा। मैंने धीरज धर कर कहा—मैं उससे घृणा करती हूँ, रात उसने मुझ पर बड़ा जुल्म किया है, हम अभागिनी स्त्रियों की तो सर्वत्र एक ही दशा है। मैं जो हूँ वही रहूँगी, यह तो क़िस्मत है। पर आपकी कोई भी सेवा मैं ख़ुशी से करूँगी, यदि आप चाहें।

उसने मेरी तरफ़ देखा, और कहा—मेरे स्वामी उस स्टेट में इञ्जीनियर हैं। हम लोग पारसी हैं, पर्दा नहीं करतीं। उस पापी ने मुझे और मेरे पति को एकाध बार चाय-पानी के लिए बुलाया था। वे कल से ही कहीं बाहर भेज दिए गए। उसने आज सुबह मुझे बुला भेजा कि साहब आए हैं, यहाँ बैठे हैं। मैं सीधे स्वभाव चली गई, पर वहाँ धोखा था। मेरी इज्ज़त बचनी थी, मैं ग़ुसल-ख़ाने की राह भाग कर मोटर में भागी हूँ। मैं सीधी वायसराय के पास जाना चाहती हूँ। मैं दिखा दूँगी कि किसी महिला की आबरू उतारने की कोशिश करना किसी गुण्डे के लिए कैसा कठिन है, फिर चाहे वह गुण्डा महाराजा ही क्यों न हो?

इतना कह कर वह लाल-लाल आँखों से मुझे घूरने लगी, मैं अपराधिनी की भाँति थर-थर काँपने लगी। क्या यह आश्चर्य की बात थी? एक ऐसी वीर महिला के सामने, जो अपनी इज्ज़त बचाने को जान पर खेल गई

है, मेरी जैसी जन्म-अभागिनी, जो उसी इज्जत को बेच कर पेट ही नहीं भरती, शान से रहना भी चाहती है—क्या खड़ी रह सकती थी ? मैं खिड़की में मुँह डाल कर रोने लगी।

वह उठ कर आई, कहा—रोती क्यों हो ? क्या कोई कड़ी बात मेरे मुख से निकल गई। ऐसा हो तो माफ़ करना, मैं आपे में नहीं हूँ।

मैंने उसका आँचल उठा कर आँखों में लगाया, उसे चूमा और फिर मैं भरपेट रोई। मैंने अपना पाप स्वीकार किया—मैंने मुँह फाड़ कर कह दिया। ईश्वर ने जीवन में मुझे सच्ची स्त्री-रत्न के दर्शन करा दिए। ओह ! हम लाखों बेबस नारियाँ इस पवित्र जीवन से वञ्चित हैं, कोई भी माई का लाल इसका उपाय नहीं सोचता !

उसने मुझे छाती से लगाया, प्यार किया। वह पवित्र वीराङ्गना मुझ पतिता वेश्या, अधम अभागिनी को बेटी की तरह दुलार करती दिल्ली तक आई। किसी तरह मेरी कोई सहायता स्वीकार न की। बहुत कहने पर कहा—"मेरे पास रुपए नहीं हैं। तुम्हारे पास हों तो १००) दे दो। ये कड़े रख लो, ६००) के हैं।" मैंने रुपए दे दिए। कड़े लेती न थी, पर वह बिना दिए कब रहती ? वह मेरी आँखों से ओझल हो गई।

६

कृमि-कीट से भी अधम और घृणास्पद वेश्या होकर भी जो मैंने रानी का गौरवास्पद पद छीनना चाहा, उस धृष्टता का जो दण्ड मिलना उचित था, वह मुझे मिला।

मैं जिस रूप पर इतराती थी और जिसकी सर्वत्र प्रशंसा थी, महाराजा भी जिसे देख कर थकते न थे, वह रूप अब निस्तेज हो गया। महाराज पर उसका नशा नहीं होता, वे और नवीनाओं की खोज में लगे और मुझे अनुचरों के सुपुर्द कर दिया। हाय री लाञ्छना, वह सब बड़ी-बड़ी आशाएँ मृग-मरीचिका निकल गईं। जिन्हें कल मैं तुच्छ समझ कर पीकदान उठवाती थी, वे महाराज के सङ्केत से मेरे शरीर और आत्मा के अधिकारी हो गए। जैसे पवित्र पाकशाला में विविध स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों से भरा हुआ थाल—महाराज के छक कर जीम चुकने पर जूठन भङ्गी को मिलती है, मेरी दशा भी उसी पत्तल के समान थी। महाराज के आदेश से उन्हीं के सम्मुख उनके विनोदार्थ मुझे उनके नीच पशु सब पार्श्वदों से जघन्य कुकर्म बिना उज्र करना और महाराज के लिए आई हुई नवीनाओं के बीच कुटनी का काम करना !!

क्या किसी स्त्री का हृदय बिना फटे रह जाय ? परन्तु मेरा हृदय फट कर भी न फटा। मैंने वह सब किया, जो मुझे आदेश दिया गया। उस दिन महफ़िल में आनन्दी

के रूप को देख कर महाराज और उनके कामुक कुत्ते उस पर लट्टू हो गए। और उस ग़रीब असहाय बालिका को उनके पास लाने का कार्य करना पड़ा मुझे? इच्छा हुई कि अभी विष खा लूँ; फिर सोचा, क्या मेरे मर जाने पर आज कोई रोवेगा? इस रस-रङ्ग में ज़रा भी विघ्न पड़ेगा? आनन्दी को भी क्या कोई बचा सकेगा?

यह तो सम्भव नहीं है। मैं उसे चुमकार-पुचकार कर ले गई। वही हुआ जो भय था, वह उसी दिन से शय्या पर पड़ी है, उसके शरीर का बूँद-बूँद रक्त निकल गया, पर रक्त-प्रवाह बन्द होता ही नहीं। डॉक्टर कहते हैं कि वह बचेगी नहीं, उसे खाँसी और ज्वर भी हो गया है, और वह सूख कर काँटा हो गई है। मैं उसे देखने गई थी। क्या उसका हाल वर्णन करूँ? वह अब उठ-बैठ भी नहीं सकती, अभी उसकी आयु की बालिकाएँ कुमारी हैं और वह सभी कुछ भोग चुकी, सभी कुछ पा चुकी, साथ ही परलोक के सभी अधिकार खो चुकी। आज नहीं तो कल वह जायगी, उस सर्व-शक्तिमान् पिता के पास, वह दयालु ईश्वर क्या अब भी उसे और दण्ड देगा! उसने पाप किया, पाप अपना जीवन बनाया, पाप में वह जी और मरी; पर पाप को उसने पाप समझा कब? नारी-जीवन पाकर, नारी-शरीर, नारी के सभी गुण पाकर, वह बेचारी नारी-गरिमा से बिलकुल वञ्चित रही!!

हाँ, मैं इस पर विचार करूँगी कि यह वेश्यावृत्ति क्या वस्तु है। और इसका दायित्व किस पर है, इसके नाश का क्या कोई उपाय नहीं है? उन पुरुषों को धिक्कार है, जो स्त्रियों के रक्षक होकर भी स्त्री-जाति के इस कलङ्क को नाश करने का ज़रा भी उद्योग नहीं करते। आह! आनन्दी, तेरी जैसी कितनी प्यार की पुतलियाँ इसी तरह कुचली गईं। ये कमीने धनी, धन के बदले हमें प्रलोभनों में फँसाते हैं और हमारा यह लोक और परलोक नष्ट करते हैं। और खेद तो यह है कि इसका ज्ञान हमें तब होता है, जब हमारे बचने के सभी मार्ग बन्द हो जाते हैं। मैं क्या कर सकती थी, मैं उसके लिए अच्छी तरह रोकर चली आई!

१०

मुझे मरने में बड़ा सुख है। रेल वाली उस महिला का हाथ मेरे मस्तक पर है। वह मुझे मृत्यु के बाद मार्ग बताएगी। अब जितना जल्द यह घृणित शरीर छूटे, अच्छा है। मैंने वे पलँग, साड़ी, शाल, आभूषण—सब त्याग दिए। मैं महादरिद्र की तरह मर रही हूँ, पर मुझे गर्व है कि इस शरीर को छोड़ अब कोई अपवित्र वस्तु मेरे पास नहीं। और जिस स्वेच्छा से मैंने वे सब सामान त्यागे हैं, उसी तरह मैं इस शरीर को त्यागने को उत्सुक हूँ। इसमें मुझे ज़रा भी दुःख नहीं, पर खेद तो यह है कि अब स्नेहशीला हीरा के दर्शन न होंगे। ऐसी प्रेम और

त्याग की अप्रतिम मूर्ति, सौन्दर्य की राशि पृथ्वी में कितनी उत्पन्न होती हैं ? सुना है कि वह पागल हो गई है और उस दिन आत्म-घात की इच्छा से छत से कूद पड़ी थी। आखिर कहाँ तक सहन करती ? जिसे उसने तन, मन, शरीर दिया, उसी ने उसे यहाँ तक गिराया। मैं मरती हूँ, पर पुरुष-जाति पर श्राप देती हूँ कि इस पुरुष-जाति का नाश हो, इसका वंश नष्ट हो, इसकी मिट्टी ख़्वार हो, जो असहाय अबलाओं की पवित्रता और जीवन को अपनी वासनाओं पर क़ुर्बान करते हैं !! यह पुरुष-जाति सदा— रोग, शोक, दुःख, दरिद्र, पाप, यन्त्रणा में अनन्त काल तक पड़ी रहे !!!

विधवाश्रम

विधवाश्रम

एक गन्दी और तङ्ग गली के भीतरी छोर पर, एक पुराने पक्के दुमञ्ज़िले मकान के भीतरी हिस्से में, एक कोठरीनुमा कमरे में ४ मूर्तियाँ एक टेबिल पर बैठी धीरे-धीरे बातें कर रही थीं। यह मकान वास्तव में विधवाश्रम था और यह मनहूस कमरा था उसका दफ़्तर।

टेबिल पर कुछ मैले रजिस्टर, पुरानी पुस्तकें, दो-एक साप्ताहिक पत्र, कुछ काग़ज़ और कुछ चिट्ठियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं।

चारों व्यक्तियों में जो प्रधान पुरुष थे, उनकी उम्र कोई ५० वर्ष की होगी। उनका रङ्ग क़तई ताँबे की भाँति, चेहरा साहबनुमा सकाचट, बदन गठीला, क़द ठिगना, चाल बिल्ली के समान और दृष्टि साँप के समान थी! हृदय कैसा था, इसका भेद वह जाने जो वहाँ की सैर कर आया हो। आप विशुद्ध खद्दर पहनते थे और किसी को सम्मुख देखते ही मुस्कुरा कर तिर्छी गर्दन करके दोनों हाथ जोड़ कर नमस्ते करते थे। आपका असली और पुराना नाम तो था सुखदयाल, परन्तु आप बहुतायत से डॉक्टर साहब के नाम से ही पुकारे जाते थे। आपने कब, कहाँ और कितनी

डॉक्टरी पढ़ी, यह जानने का अब कोई उपाय नहीं। एक युग हो गया तभी से आपका यह नाम पेटेण्ट हो गया है। सुना है, बहुत दिन हुए आप किसी गुरुकुल में कम्पाउण्डर थे। वहाँ के रसोइए, कहार और कोई-कोई ब्रह्मचारी भी आपको डॉक्टर ही कह कर पुकारते थे, तभी से आपका यही नाम पड़ गया।

आश्रम में आने पर आपको तीन नाम और पेटेण्ट करने पड़े—"पिता जी, अधिष्ठाता जी और संरक्षक जी।"

चारों धर्मात्मा बैठे धीरे-धीरे कुछ बातचीत कर रहे थे कि भीतर से एक स्त्री ने आकर कहा—पिता जी! लुगाइयाँ तो दोनों बहुत बढ़िया हैं।

"अच्छा!"

"दोनों की उठती हुई उम्र है, रङ्ग भी खूब निखरा हुआ है, पर दोनों रो बुरी तरह रही हैं।"

"अच्छा, उन्हें कुछ खिला-पिला कर बातचीत से खुश करो, और अलग-अलग कोठरियों में सुला दो।"—इतना कह कर पिता जी, उर्फ़ डॉक्टर जी, उर्फ़ अधिष्ठाता जी ने बूढ़े बकरे की तरह दाँत निकाल दिए और अपनी मनहूस आँखों को क्षण भर के लिए सामने बिखरे हुए काग़ज़ों पर से उठा कर बात करने वाली धरमपुत्री (?) की ओर घूर दिया। धरमपुत्री उसी तरह एक कटाक्ष फेंक और दाँतों की बहार दिखाती हुई चल दी।

इस धरमपुत्री की उम्र लगभग ३० वर्ष, रङ्ग कोयले के समान, जिस्म लम्बा, बदन छरहरा और चेहरा पानीदार था। दाँत चमकीले, आँखें तेज़ और चञ्चल तथा वाणी साफ़ और लच्छेदार थी। यही आश्रम की संरक्षिका, इस छोटे से स्त्री-जेलखाने की सुपरिन्टेण्डेन्ट, और इस पाप-महल की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महारानी थी। नाम था प्रेमदेवी।

२

उसी दिन, दिन के ३ बजे विधवाश्रम के बाहरी बैठक-खाने में, जिसे ऑफ़िस कहा जाता था, चार मूर्तियाँ एक टेबिल पर बैठी धीरे-धीरे बातचीत कर रही थीं। टेबिल पर कुछ मैले रजिस्टर, पुस्तकें, साप्ताहिक पत्र, कुछ काग़-जात और कुछ चिट्ठियाँ पड़ी थीं। चारों पुरुषों में जो प्रधान पुरुष थे—वे वही हमारे डॉक्टर जी थे—वे अपने स्वभाव-सिद्ध ढङ्ग पर गर्दन टेढ़ी किए हाथ में पेन्सिल लिए कुछ भुनभुनाते जाते थे। इनकी बाँईं ओर जो व्यक्ति थे, उनका मुँह पिचका हुआ, आँखें गढ़े में घुसी हुई, लम्बी गर्दन, बड़ी सी नाक थी, सिर पर मैली खद्दर की टोपी थी। ये बड़े ध्यान से डॉक्टर जी की बात में दत्तचित्त हो रहे थे। असल में ये आश्रम के सेक्रेटरी थे। और सिर्फ़ २५) ऑनरेरियम पाते थे। उनके बराबर तीसरे व्यक्ति एक नवयुवक थे। इनकी घिनौनी मूँछें बड़े

भद्दे ढङ्ग से मुख पर फैल रही थीं। आँखों में शरारत और चेष्टा में बदमाशी साफ़ झलक रही थी। ये डॉक्टर जी के हुक्म के मुताबिक़ सामने रक्खे हुए, खुले काग़ज़ों की फ़ाइल में कुछ काट-छाँट कर रहे थे। इन्हें आश्रम से ३०) महीना वेतन भी मिलता था। बेचारों के ऊपर रात-दिन का, आश्रम और उसकी रहने वाली स्त्रियों की रक्षा का, असह्य भार था। विवश उन्हें रात को भी नौकरी से फ़ुर्सत नहीं मिलती थी, हालाँकि आप बहुत कुछ शिकायत किया करते थे—पर इस ग़ैर-फ़ुर्सती में आप कितने ख़ुश थे, सो भगवान जानता है। ये एक तौर से इस मण्डली में गुड़ के चिउँटे हो रहे थे। इनका नाम था गजपति।

इनके बग़ल में लाला जगन्नाथ बैठे थे। इनका स्याहफ़ाम चेचक से मुँदा मुँह, भद्दी सी आँखें, नाटा क़द और बात-बात में सनक सी उठना—इनके व्यक्तित्व को सबसे पृथक् कर रहा था। आपकी उम्र ५० के लग-भग थी। आप मुख पर गम्भीरता और भक्ति-भाव लाने के लिए जो चेष्टा प्रायः किया करते थे, उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानों आप अभी रो पड़ेंगे। शायद इसी चेष्टा के फल-स्वरूप आपका होठ नीचे को लटक गया था और चेहरा कुछ लम्बा हो गया था।

लेख को ठीक करा कर डॉक्टर जी बोले—बस अब हिसाब में जो थोड़ी सी भूल है, उसे तुम ठीक कर करा

लेना। परन्तु सुनो—कल ही तो अन्तरङ्ग मीटिङ्ग है, सब कागज़ात आज ही रात को तैयार और साफ़ हो जाने चाहिए। पीछे का बखेड़ा रहना ठीक नहीं।

"बहुत अच्छा! परन्तु वे दो रुपए, जो कुन्ती की शादी में वसूल हुए हैं, किस मद में डाले जायँ?"

"किसी में भी नहीं, अभी उनकी बात छोड़ो, उनका हिसाब मैं पीछे दूँगा। तुम्हें अपना हक़ तो मिल गया न?"

"कहाँ, सिर्फ़ २५) मिले हैं।"

"तब यह लो ५) और, यह हिसाब तो साफ़ हुआ। आप लोगों को भी तो इस विवाह का हिस्सा मिल गया है।"

दोनों अन्य पुरुषों ने भी स्वीकृति दे दी। इस पर डॉक्टर जी कुछ कहना चाहते थे कि एक वृद्धा स्त्री ने द्वार में घुस कर मूर्ति-चतुष्टय को धरती में माथा टेक कर प्रणाम किया।

गजपति ने कहा—माई, क्या है?

"महाशय जी! मेरी यह फुफेरी बहिन की लड़की है, बेचारी बाल-विधवा है, न कोई आगे न पीछे। मैं अन्धी-धुन्धी बुढ़िया हूँ, इसे कहाँ तक देख-भाल कर सकती हूँ। घर में इसका मन नहीं लगता। सदैव द्वार पर खड़ी रहती है। सधवाओं जैसा बनाव-सिङ्गार क्या इसको रुचता है? पर यह एक नहीं सुनती। आपकी मैंने तारीफ़ सुनी है,

खराब औरतों को आप सुधारते हैं, उनकी रक्षा करते और उन्हें सन्मार्ग पर लाते हैं। महाराज! आप कृपा कर इस लड़की का कुछ उपाय कीजिए।"

इतना कह कर उसने अपने पीछे सिकुड़ी खड़ी बालिका को धकेल कर आगे किया और माथा टेकने का आदेश किया। बालिका आगे दो क़दम बढ़ कर ठिठक गई। बोली नहीं, न उसने माथा ही टेका, केवल एक बार नेत्रों की रेखा से मण्डली को देखा। एक क्षीण हास्य-रेखा उसके मुख पर आई और वह चुपचाप खड़ी धरती को निहारने लगी।

तीनों आदमी उस शर्माई हुई बालिका को एकटक देखने लगे। मण्डली विचलित सी हो गई।

गजपति ने कहा—"बुड्ढी माँ, तुमने अच्छा किया इसे यहाँ ले आईं, यहाँ इसकी हमजोलियाँ बहुत हैं। अच्छा इसे ज़रा आने-जाने को कहो। क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है?" इतना कह कर गजपति ने उसके कन्धे पर हाथ धर दिया।

डॉक्टर जी ने कहा—"ठहरो! उसे सामने वाली कोठरी में बैठने दो, मैं इससे अभी बात करूँगा।" बालिका तत्काल कोठरी की ओर चली गई। वृद्धा बैठी रही, लाला जगन्नाथ उसे उपदेश दे रहे थे।

बालिका वास्तव में यहाँ की घूराघूरी देख कर घबरा उठी थी। वहाँ से वह जान बचा कर कोठरी में भाग गई।

और चाहे कोई न जाने, परन्तु स्त्रियाँ बदमाशों की पाप-दृष्टि को ख़ूब पहचानती हैं।

इसके बाद डॉक्टर जी उठ कर कोठरी में घुस गए, दरवाज़ा उढ़का दिया। यह देखते ही ग़रीब बालिका सूख गई। वह वहाँ से उठ कर बाहर को जाने की चेष्टा करने लगी। डॉक्टर जी ने हाथ पकड़ कर कहा—बेटी! डर क्या है, घबराने की बात नहीं। इधर आ, मैं तेरा रक्षक बनूँगा?

इतना कह वे उसे कनखियों से देखने लगे। बालिका सिकुड़ कर बैठ गई और उनकी बात की प्रतीक्षा करने लगी।

डॉक्टर जी ने कहा—तुम्हारा नाम क्या है?

"चन्दन!"

"बहुत सुन्दर नाम है। अच्छा यह तो बताओ! तुम्हारे मन में कभी किसी तरह की उमङ्ग तो नहीं उठती?"

बालिका समझी नहीं। वह बड़ी-बड़ी आँखें उठा कर डॉक्टर जी की ओर देखने लगी।

"आह! समझी नहीं; (कन्धे पर हाथ धर कर और पास खसक कर) अभी नादान बच्ची हो। मन के भाव समझती नहीं। ख़ैर देखो, तुम चाहो तो यहाँ आश्रम में रहो, चाहे कभी-कभी आया करो। कुछ रुपए-पैसे की ज़रूरत हो तो मुझसे कहो। देखो, भेद-भाव मत रखना। अब मैं तुम्हारा रक्षक हुआ। क्यों, हुआ न? बोलो!"

बालिका बिना हाथ-पैर हिलाए चुपचाप बैठी रही। उसके बदन पर पसीना आ रहा था।

डॉक्टर जी ने उसकी कमर में हाथ डाल कर अपनी ओर खींचते हुए कहा—जवाब तो दो!

बालिका ने तनक कर कहा—आह! यह क्या करते हैं, अपना हाथ खींच लीजिए।

"क्रोध मत करो। जब मैं रक्षक हुआ तो जो पूछूँगा बताना पड़ेगा, जो कहूँगा करना पड़ेगा; किसी बात में उज्र न करना होगा। देखो, तुम्हारी यह साड़ी कितनी पुरानी और गन्दी हो गई है। ये रुपए ले जाओ, नई ले लेना।"

इतना कह कर डॉक्टर जी ने ५) का एक नोट उसके हाथ पर धर दिया। बालिका नोट देख कर घबरा उठी, ले या न ले—न समझ सकी। उसके मन में नई साड़ी पहनने की लालसा जाग्रत हो उठी। वह उत्सुक होकर डॉक्टर जी के सफ़ाचट मुख को देखने लगी।

डॉक्टर जी ने कहा—नोट को सम्हाल कर रख लो। जेब तो है न—चोली में रख लो। गिर न जाय। ठहरो, मैं रख देता हूँ।

बालिका न रोष, न निषेध कर सकी। डॉक्टर जी ने उसकी चोली में हाथ घुसेड़ दिया। एक पैशाचिक आवेश से डॉक्टर जी का लाल चेहरा और भी लाल हो उठा।

बालिका घबरा कर उठ बैठी। और उसने धड़ाम से किवाड़ खोल दिए। डॉक्टर जी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उन्होंने धीरे से कहा—अच्छा बाक़ी बातें फिर होंगी, परसों इसी समय आना। पर देखना, रुपयों की बात किसी से न कहना—समझी ?

"पर जब ख़र्च करूँगी, तब तो भेद खुलेगा ही ?"

"कह देना किसी सहेली ने दिया था, या पड़ा पा गई थी।"

"ख़ैर, आप बेफ़िक्र रहें, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

अब डॉक्टर जी दुलार से बालिका के गाल पर चुटकी लेकर बाहर चले आए। हँस कर बुढ़िया से कहा—लड़की बड़ी सीधी है, दो-चार बार आने से समझ जायगी। न होगा तो यहाँ कुछ दिन रख लिया जायगा।

बुढ़िया ने कहा—"भगवान आपका भला करें। आपने बड़ा भारी धर्म का बीड़ा सिर पर उठाया है।" इतना कह और धरती में माथा टेक बुढ़िया रवाना हुई।

३

डॉक्टर साहब आश्रम के भीतरी कक्ष में एक शत-रञ्जी पर बैठे थे। सामने एक नवयुवती सिकुड़ी हुई बैठी थी। डॉक्टर साहब मन लगा कर उसे सत्मार्ग पर लाने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने कहा—देखो बेटी, मैं तुम्हारा धर्म का पिता हूँ और रक्षक हूँ। समझती हो न ?

"जी हाँ, आपने पत्र में भी यही लिखा था, इसीसे आप पर विश्वास करके चली आई हूँ। मैं आपकी धर्म की पुत्री हूँ। आह, मैं बड़े दुष्टों के फन्दे में पड़ गई थी, कहने को समाजी, पर परले दर्जे के लुच्चे, औरतों का व्यापार करने वाले।"

"अच्छा, तुम कहाँ जा फँसी थीं? खैर, जाने दो इन बातों को। तो देखो, जब मैं तुम्हारा रक्षक और धर्म-पिता हुआ, तब तुम्हें मेरे कहने के माफ़िक़ काम भी करना होगा। तुम जानती हो, मैं सदैव तुम्हारी भलाई की बात ही सोचूँगा।"

"मुझे आपका भरोसा है।"

"अच्छी बात है, तुम्हें तीन दिन यहाँ आए हुए। कहो, कोई कष्ट तो नहीं है?"

"जी नहीं।"

"खाने-पीने की दिक़्क़त?"

"जी, कुछ नहीं।"

"कपड़े-लत्ते तुम्हारे पास काफ़ी हैं न?"

"जी हाँ?"

"खैर, मैं दो जोड़ा साड़ी तुम्हें आज ही और भेजवा देता हूँ। तुम कैसी साड़ी पसन्द करती हो, रेशमी कोर की न?"

"जी, जैसी मिल जाय।"

"जैसी चाहोगी वैसी मिल जायगी। ख़ैर, तुम्हें कुछ जेब-ख़र्च भी चाहिए ?"

"जी नहीं, मेरे पास कुछ रुपए हैं।"

"अच्छी बात है। हाँ, एक बात—यहाँ ज़ेवर पहनने का नियम नहीं है! तुम्हारे गहने सब कोष में जमा होंगे।"

"कोष क्या है ?"

"आश्रम का कोष—यानी ख़ज़ाना। जब तुम्हारा विवाह होगा, तब वापस दे दिए जावेंगे।"

"मगर मैं विवाह तो कराने की इच्छा ही नहीं करती।"

"यह कैसी बात है ? फिर यहाँ आई क्यों हो ?"

"मैं तो विद्या पढ़ कर केवल अपना धर्म सुधारना चाहती हूँ।"

"परन्तु जवान लड़कियों का धर्म सिर्फ़ विद्या से ही नहीं बचता।"

"तब ?"

"उन्हें ब्याह करना चाहिए।"

"ब्याह तो एक बार हो चुका, वही तक़दीर में होता तो तक़दीर क्यों फूटती ?"

"यह तो संसार के कारख़ाने हैं, सब दिन एक से नहीं रहते। कहा है—"बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेहु।"

"पर मैं तो विद्या पढ़ने ही आई हूँ।"

"विवाह करा के विद्या भी पढ़ना।"

"विवाह कराना मैं नहीं चाहती।"

"तुम्हें अवश्य विवाह कराना चाहिए।"

"मैं धर्म-काज में जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ!"

"तुम्हारा विवाह किसी धर्मोपदेशक से करा दिया जायगा।"

"पर यह मुझे पसन्द नहीं, मुझे विवाह से घृणा है।"

"यह तुम्हारी नादानी है।"

"आप मेरे पढ़ने-लिखने का बन्दोबस्त कर दें।"

"परन्तु यह विधवाश्रम है, कोई कन्या-पाठशाला नहीं।"

"आपने लिखा था कि पढ़ने का प्रबन्ध हो जायगा।"

"पर विवाह के बाद।"

"विवाह के बाद आप क्या यहाँ रख सकेंगे?"

"यहाँ रखने ही से क्या—जो विवाह करेगा, वह पढ़ाएगा।"

"और यदि मैं विवाह न करूँ?"

"अवश्य करना पड़ेगा?"

"मैं विवाह नहीं करूँगी?"

"कह चुका, अवश्य करना पड़ेगा।"

"तब मुझे चली जाने दीजिए, मैं यहाँ न रहूँगी।"

"यह भी असम्भव है।"

"असम्भव क्यों ?"

"नियम है।"

"यह तो धींगामुश्ती है।"

"तुम चाहे जो कुछ समझो।"

"मैं यहाँ एक मिनिट भी नहीं रह सकती।"

"तुम यहाँ से जा नहीं सकतीं।"

"देखूँ कौन रोकता है।"

"डॉक्टर ने सङ्केत किया। गजपति और जगन्नाथ अधिष्ठात्री देवी के साथ आ हाजिर हुए। डॉक्टर ने कहा—"इस बेवक़ूफ़ को समझा कर राज़ी करो।" और वे चले गए।

युवती ज़बर्दस्ती बाहर जाने लगी।

गजपति ने कहा—ज़ोर क्यों करती हो, ज़ोर हममें भी है। बात समझो-समझाओ, ज़ोर से कुछ नहीं बनेगा।

"मैं कुछ नहीं सुनती, मैं अभी जाऊँगी।"

"जा नहीं सकती ?"

"क्या मैं क़ैदी हूँ ?"

"जो कुछ समझो।"

"तुम सब लोग एक ही से पिशाच हो, धर्म की टट्टी में शिकार खेलते हो।"

"जो जी में आवे सो बको।"

"क्या तुम ज़बर्दस्ती शादी कराना चाहते हो ?"

"और आश्रम हमने किस लिए खोला है ?"

"मैंने समझा था कि विधवाओं को शिक्षा मिलती है। रोटी-कपड़ा मिलता है, वे स्वावलम्बिनी बनाई जाती हैं।"

"और तुम्हें यह नहीं मालूम कि उनकी शादियाँ भी होती हैं ?"

"मैं समझती थी, जो शादी कराना चाहे उसकी शादी होती होगी।"

"बस यही ग़लती है। इस तरह यहाँ पञ्छियों का बसेरा बसाया जाय तो आश्रम का दिवाला दो दिन में निकल जाय। यहाँ तो नया माल आया—इधर से उधर चालान किया, आश्रम का भी खर्च निकला और तुम लोगों का भी भला हुआ।"

"मैं अपना भला कर लूँगी, तुम अपना खर्च ले लो और मुझे जाने दो।"

"खर्च क्या होगा ?"

"और कुछ मेरे पास नहीं, जो दो-चार गहने हैं उन्हें ले लो।"

"लाओ, ये तो कोष में जमा होंगे।"

युवती ने गहने उतार दिए। उन्हें गजपति ने हाथ में लेकर कहा—हमने तार देकर तीन आदमी पञ्जाब से तुम्हारे लिए बुलाए हैं। वे आज रात को आ जावेंगे। एक

तो आ भी गया है, अब यह तुम्हारी पसन्द पर है, जिसे चाहो पसन्द करो।

इतना कह और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए, उसने उसे पीछे को ढकेल दिया। जब तक यह सम्हले, उन्होंने बाहर निकल कर साँकल चढ़ा दी और कहा—भागने की चेष्टा के भय से ऐसा किया गया है। बुरा न मानना, अभी विवाह को ना-नू करती हो, जब सुन्दर जवान देखोगी तो खुश हो जाओगी। दिन भर पड़ी-पड़ी सोच लो।

इतना कह कर तीनों चल दिए। युवती भौंचक सी खड़ी रह गई। फिर वह ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ों पर हाथ मारने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगी।

४

"देखो सावित्री, आज तुम्हारी शादी फिर निश्चय हो गई है। और इस बार भी तुम्हें वही चालाकी करनी होगी। तुम कुछ नई तो हो नहीं, सब बातें जानती हो।"

"अब इस बार मुझे कहाँ जाना होगा?"

"दूर नहीं, करनाल के पास एक क़स्बे में।"

"हे ईश्वर, वहाँ मेरा दिल कैसे लगेगा?"

"दिल की एक ही कही, १०-१५ दिन नहीं काट सकती हो?"

"माल-मलीदे तो ख़ूब मिलेंगे?"

"ख़ूब!"

"और वह उल्लू ?"

"वह एक बूढ़ा खूसट है, खूब बनाना।"

"कुछ झगड़ा-बखेड़ा तो खड़ा न होगा ?"

"झगड़ा क्या होगा !"

"खैर, मुझे क्या मिलेगा ?"

"सैर-सपाटा, माल-टाल और बढ़िया साड़ी, जूता-मोज़ा और ३-४ अदद नए गहने।"

"और रुपए ? रुपए इससे न जमा कराए जावेंगे ?"

"५०० तो बँधी बात है, उसका क्या कहना है।"

"पर इस बार सब रुपए मैं लूँगी।"

"यह कैसे हो सकता है, पहले की भाँति अद्धम-अद्धा पर सौदा होगा।"

"अच्छी बात है, मुझे मञ्जूर है।"

"तब नहा-धोकर सिङ्गार-पिटार कर लो। उल्लू को सामान का पर्चा उतरवा दिया है, लेकर आता ही होगा। साड़ी तुम स्वयं पसन्द कर लेना।"

उपरोक्त बातचीत विधवाश्रम की अधिष्ठात्री देवी और एक युवती में हो रही थी। बातचीत करके अधिष्ठात्री जी चली गईं और युवती कुछ सोच कर हँस पड़ी। उसने उँगली पर आप ही आप गिन कर कहा—एक-दो-तीन ! यह तीसरा उल्लू है। इसमें भी खूब मज़ा है। थोड़ी देर तक वह अपने भूतकाल को सोचने लगी। वह वर्त्तमान

जीवन से उसका मुक़ाबला करने लगी। क्या यह अच्छी बात है? पति के घर में कैसी सुखी थी, ज़रा सी बात पर लड़ कर निकल भागी, और ये दुष्ट मुझे फाँस लाए। अब यहाँ अजीब शादियाँ होती हैं, रुपए गाँठ में करो, दुलहिन बनो, ब्याह करो और फिर चकमा देकर भाग आओ। फिर ब्याह कर लो। पकड़ी जाओ तो कह दो कि ज़ुल्म करता है, मारता है। जय गङ्गा जी की!

युवती फिर ज़रा हँस दी। फिर कुछ सोचने लगी। थोड़ी देर में उसने एक कहारी को पुकार कर कहा—ज़रा बलवन्त को तो बुला दे।

बलवन्त एक ३० वर्ष का हट्टा-कट्टा, किन्तु मैला-कुचैला आदमी था। उसकी आँखें छोटी, नाक पतली और लम्बी, माथा तङ्ग और रङ्ग पीला था। उसके दाँत बड़े गन्दे थे, और मूँछें बड़ी बेतरतीब थीं। वह ठिगना, ज़रा मोटा और बेहूदा सा आदमी था। उसने आकर जरा हँस कर कहा—क्या हुक्म है?

"वही मामला है, बस समझ लो।"

"सब समझ चुका हूँ। सुन लिया है।"

"बताओ, फिर क्या करना होगा?"

"करना-धरना क्या है, ज़रा शर्मीली नवेली बन कर चली जाओ। १०-५ दिन ख़ूब शर्मीली बनी रहना, बूढ़े को अच्छी तरह सुलगाना। ५-७ गहने वसूल करना, उसे

रिझाना। मौक़ा पाकर चिट्ठी में भागने की तारीख़ लिखना—समय भी लिख देना। समय वही सन्ध्या का ठीक है, मैं गली में मिल जाऊँगा, सवारी तैयार रहेगी। हम लोग अगले स्टेशन से सवार होंगे। ५-७ दिन पहले की भाँति सैर करेंगे, फिर यहाँ आ जावेंगे।" बलवन्त ने युवती को घूर कर हँस दिया। युवती ने नटखटपने से हँस कर कहा—"बस, इस बार तुम्हारे चकमे में मैं नहीं आने की, सैर-सपाटा नहीं होगा, मैं सीधी यहीं आऊँगी।"

"कैसी बेवकूफ़ हो, जब वह यहाँ ढूँढ़ने आवेगा, तब क्या होगा ?"

"मैं क्या जानूँ !"

"बस, तो जब ऐसी अनजान हो तो जैसा हमारा बन्दोबस्त है, वह करो। तुम्हारे ग़ायब होते ही वह सीधा यहीं दौड़ेगा। और आश्रम का कोना-कोना छान कर चला जायगा। बस आश्रम की ज़िम्मेदारी ख़तम। फिर दूसरा उल्लू देखेंगे ?"

"और इतने दिन तुम अपनी मनमानी करोगे।"

"देखो प्यारी, मेरे विषय में ऐसी बात न कहो। दो-दो बार तुम्हारे लिए मैं जान हथेली पर धर चुका हूँ। तुम्हें मैं दिल से चाहता हूँ। अन्त में तो और दो-चार खेल खेल कर तुम मेरी होगी ?"

"चलो हटो, मैं तुम्हारा मतलब ख़ूब जानती हूँ। तुमने जानकी से भी ऐसे ही कौल-क़रार किए थे। आख़िर जब झगड़ा पड़ा तो साफ़ बच गए, बेचारी को जेल जाना पड़ा।"

"नहीं प्यारी, ऐसा न कहो—क़सूर उसी का था।"

"ख़ैर, जाने दो। तो अब क्या बात पक्की रही?"

"वही, जो मैं कह चुका हूँ।"

"मैं तुम्हें ख़त लिखूँगी?"

"हाँ, उसमें इशारा भर कर देना कि कौन तारीख़।"

"अच्छी बात है।"

"बाक़ी सब काम मैं स्वयं कर लूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

"पर, आज×××"

"चलो हटो, आज मेरी शादी है, ऐसी बातें न करो।"

"अच्छा देखा जायगा।"—यह कह कर दुष्टतापूर्ण सङ्केत करके वह चला गया।

५

"महाशय जी, ५००) तो मैं जमा कर चुका, अब ये दो सौ किस लिए माँगे जाते हैं?"

"महाशय जी, वे ५००) तो स्त्री-धन हैं। यदि तुम उसे त्याग दो, उस पर ज़ुल्म करो, उसे दग़ा दो तो वह क्या खाएगी, वह तो कहीं की न रही न; इसका तुम्हें अभी इक़रारनामा लिखना पड़ेगा।"

"खैर, वह मैं लिख दूँगा, कहीं घर-गृहस्थ में ऐसा भी होता है ? महाशय जी, मैं गृहस्थ आदमी हूँ, लुच्चा-लुङ्गाड़ा नहीं।"

"तभी ऐसी देवी आपको दी गई है, दुनिया में चिराग़ जला कर भी देखोगे तो ऐसी लड़की न मिलेगी।"

"यह आपकी मेहरबानी।"

"तब लीजिए, यह रहा इक़रारनामा—दस्तख़त कीजिए। आओ जी तुम बलवन्त, गवाही कर दो। एक गवाही और चाहिए। अधिष्ठात्री देवी जी को बुला लो, वे कर देंगी। हाँ, वे दो सौ ?"

"वे दो सौ किस मद में जावेंगे ?"

"आश्रम की मद में। महाशय जी, आश्रम का ख़रचा कहाँ से चलता है, यह तो सोचिए। लड़कियों को महीनों रख कर उन पर कितना ख़र्च किया जाता है। उनकी शिक्षा, परवरिश, उनके कुसंस्कारों को दूर करके उनके विचारों को शुद्ध करना, उन्हें आदर्श गृहिणी बनाना—यह सब मामूली बात थोड़े ही है। ये दो सौ रुपए आश्रम को दान समझिए, इनकी आपको रसीद मिलेगी। ख़ातिर-जमा रखिए।"

"मगर मैं आश्रम को तो ५०) प्रथम ही दे चुका हूँ।"

"वह तो दाख़िला फ़ीस थी महाशय जी ! यह तो आश्रम का नियम है कि जब कोई विवाहार्थी आवे तो

फ़ीस दाख़िला लेकर तब विवाह की चर्चा चलाई जाय।"

"मगर महाशय जी, ये दो सौ रुपए तो भार मालूम देते हैं।"

"यह आप क्या कहते हैं? संस्था को देने में आप इधर-उधर करते हैं। सोचिए, यदि संस्था न होती तो कितनी देवियाँ धर्म-भ्रष्ट होतीं, और आपकी सेवाएँ भी कैसे हो सकती थीं।"

अधिष्ठाता उर्फ़ पिता जी और वर में उपरोक्त घिस-फिस बड़ी देर तक होती रही और तब उन्होंने २००) के नोट गिन दिए। इसके बाद ही, स्वस्ति-वाचन, शान्ति-प्रकरण का ज़ोर-शोर से पाठ हुआ। अग्नि प्रज्वलित हुई, दुलहिन आई और पवित्र वैदिक रीति से विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। विवाह होने पर अधिष्ठाता जी बोले—१५) और दीजिए!"

"यह किस लिए?"

"५) पण्डित जी की विवाह-दक्षिणा; ५) की साड़ी अधिष्ठात्री देवी के लिए और ५) की मिठाई सब लड़कियों के वास्ते।"

कुछ अनमने होकर १५) भी दे दिए। इसके बाद उन्होंने घड़ी देख कर कहा—अब आप बिदा की तैयारी करा दीजिएगा। गाड़ी जाने में अधिक देर नहीं है।

"पर अभी तो प्रीति-भोज होगा।"

"बस प्रीति-भोज रहने दीजिए।"

"ऐसी जल्दी नहीं। सब तैयार है। भला बिना भोजन विवाह कैसा ?"

प्रीति-भोज का आयोजन हुआ। पुरोहित, अधिष्ठाता और अल्लम-गल्लम, जो वहाँ उपस्थित थे, सभी बैठे। भोज समाप्त होते ही, हलवाई ने बिल अधिष्ठाता जी को दे दिया। उन्होंने एक नजर डाल कर वर महाशय की तरफ सङ्केत करके कहा—आपको दो।

वर महाशय ने घबरा कर कहा—अब यह क्या है ?

"अभी प्रीति-भोज हुआ न, उसी का बिल है।"

"यह भी मुझे चुकाना पड़ेगा ?"

"वाह महाशय जी, यह खूब कही, विवाह आपका होगा तो क्या बिल और कोई चुकावेगा ?"

"इसका पेमेण्ट तो आश्रम को करना चाहिए।"

"वाह, आश्रम तो आप ही की संस्था है, वह यह भार कैसे उठा सकती है। सोचिए तो।"

वर महाशय ने जरा गुनगुने होकर बिल चुका दिया और कहा—अब आप जरा जल्दी कीजिए, गाड़ी के जाने में वक्त बिलकुल नहीं रहा है।

"बस अब विलम्ब कुछ भी नहीं है। विवाह आपका शुभ हो।"

इसके थोड़ी देर बाद ही वर-वधू बिदा हुए। वधू ने हस-हँस कर सब से हाथ मिलाए। किसी-किसी से घुस-पुस बातें कीं और पतिदेव के साथ खट से कूद कर ताँगे पर चढ़ गई।

यह असल वैदिक विवाह का प्रताप था कि वधू रोई नहीं, चिल्लाई नहीं, घूँघट दिया नहीं, शर्माई नहीं। बोलो वैदिक धर्म की जय !!

६

"कहिए, आपका क्या काम है ?"

"मुझे आपसे एकान्त में कुछ कहना है।"

"यहाँ एकान्त ही है, निस्सङ्कोच कहिए। इन लोगों से कुछ छिपा नहीं।"

"आपसे मैं एक सहायता लेना चाहता हूँ।"

"कहिए भी, क्या सहायता ?"

"एक लड़की का उद्धार करना है।"

"कहाँ से ?"

"वेश्या के घर से।"

"वह लड़की कौन है ?"

"उसी वेश्या की कन्या।"

"आप क्यों उद्धार किया चाहते हैं ?"

"वह वहाँ रहना और कुकर्म कराना नहीं चाहती, उसकी माँ उसे मजबूर कर रही है, पर वह पसन्द नहीं करती।"

"वह क्या चाहती है ?"

"किसी भले आदमी से ब्याह करना चाहती है।"

"वह भले आदमी शायद आप हैं ?"

"जी नहीं, मैं तो ऐसा कर ही नहीं सकता। आप जानते हैं, जात-बिरादरी का मामला है।"

"तब फिर आपको उसकी इतनी चिन्ता क्यों है ? लाखों वेश्याओं की लड़कियाँ यही करती हैं।"

"मैं सिर्फ़ इसका उद्धार चाहता हूँ, और आपकी सेवा से भी बाहर नहीं।"

"आप किस तरह काम करना चाहते हैं—खुलासा कहिए।"

"सुनिए, मैं किसी तरह उसे वहाँ से निकाल लाऊँगा, बाज़ार में सौदा ख़रीदने के बहाने। उसकी माँ मुझ पर विश्वास करती है, भेज देगी। फिर मैं उसे डिप्टी कमिश्नर के पास भेज दूँगा। वहाँ वह कह देगी कि मेरी माँ मुझसे बुरा काम कराना चाहती है—उससे मुझे बचाया जाय। जब उससे पूछा जायगा कि तू कहाँ जाना चाहती है, तब वह आश्रम में आने को कह देगी। आप यहाँ रख लें, और हम जिस आदमी से कहें उसकी शादी उसी रात को कर दें। ये दो सौ रुपए आपकी नज़र हैं।"

"और वह आदमी कौन है ?"

"मेरा नौकर है।"

"समझ गया, इस ढङ्ग से आप उस लड़की पर अधिकार करना चाहते हैं। मगर वह नौकर शादी होने पर आपके हत्थे क्यों लड़की को चढ़ने देगा ?"

"वह आठ रु० माहवार पाता है। उससे हमने ज़बानी तय कर लिया है कि लड़की पर उसे कोई दख़ल नहीं होगा। इक़रारनामा लिखा लिया है कि इसकी मर्ज़ी के माफ़िक़ अगर मैं इसका भरण-पोषण न कर सकूँ, तो लड़की को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। वह इक़रारनामा मेरे पास है।"

"बड़े उस्ताद हो। २००) लाए हो ?"

"ये हाज़िर हैं।"

"जाओ अपना काम करो, लड़की को यहाँ भेज दो। मगर देखो, वह इस शादी में ना-नू तो न करेगी ?"

"ज़रा भी नहीं।"

"तब ठीक।"

७

विधवा-आश्रम का आज वार्षिकोत्सव था। सभास्थान ख़ूब सजाया गया था। लाल-पीले कपड़ों पर वेद-मन्त्र लिख कर लटका दिए गए थे। धर्म और सत्यकर्म का प्रवाह बह रहा था। 'नमस्ते' की गूँज आसमान चीर रही थी। बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष एकत्रित थे। सभास्थल खचाखच भर रहा था। थोड़ी देर बैण्ड बज चुकने के बाद

सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। भीतरी ओर का एक छोटा सा दरवाज़ा खुला और उसमें से ५-६ आदमी निकले। ये सब अन्तरङ्ग सभा के सदस्य थे। इन्हीं में हमारे पूर्व-परिचित डॉक्टर साहब तथा अन्य सत्पुरुष भी थे।

उनके आते ही सभा में तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूँज उठा। इसके बाद ही लाला जगन्नाथ जी ने चिल्ला कर कहा—"मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज की सभा में हमारे परम श्रद्धास्पद, आदरणीय श्री० डॉक्टर साहब सभापति का स्थान ग्रहण करें।" गजपति ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अब डॉक्टर साहब भाँति-भाँति के मुँह बनाए, उसी प्रकार टेढ़ी गर्दन किए, विविध रीति से शिष्टाचार प्रदर्शन करते हुए अति दीन-भाव से सभापति के आसन पर जा बैठे। मानों उन्हें फेर सी लगाई जा रही थी। उनके आसीन होते ही फिर तालियाँ बजीं। अब एक महाशय जी बड़ा सा साफ़ा सिर पर लपेटे उठ खड़े हुए और बड़े गर्वीले ढङ्ग से खड़े होकर एक भजन गाना प्रारम्भ किया। भजन क्या था, गद्य-पद्य का सम्मिश्रण था। न सुर, न ताल। वे ख़ूब चीख़-चीख़ कर गाने लगे और साथ ही हारमोनियम बजाने लगे। हारमोनियम भी ख़ूब चीख़ रहा था। अन्ततः लोगों के कानों के पर्दे फटने लगे और वह गायन समाप्त हुआ। इसके बाद

डॉक्टर साहब ने खड़े होकर वक्तृता देनी प्रारम्भ की :—
"भाइयो और देवियो !

आज आपके आश्रम का द्वितीय वार्षिक उत्सव है। इस अवसर पर इतने आदमियों को एकत्रित देख कर मैं फूला नहीं समाता हूँ। अभी मन्त्री जी आपको रिपोर्ट सुनाएँगे। उससे आपको मालूम होगा कि अधोगति के मार्ग में पतित भ्रष्टा स्त्रियों को पतन के महापङ्क से उद्धार करने में आश्रम ने कितनी समाज की सेवा की है। ईश्वर की कृपा और आप लोगों की सहानुभूति से संस्था खूब सफल हो रही है (हर्षध्वनि)। परन्तु अभी लाखों-करोड़ों अनाथा विधवाएँ हैं, जिनका उद्धार होना बाक़ी है (सुनो-सुनो)। काम बड़ा कठिन है, और उसे यह आश्रम ही पूरा कर सकता है। सज्जनो, आर्य-पुरुषो, क्या आप इस आश्रम से सहानुभूति नहीं चाहते हैं ? (हर्षध्वनि) क्या आप इसकी हस्ती को क़ायम रखना चाहते हैं ? (अवश्य-अवश्य) तब मैं आशा करता हूँ कि आप अपनी जेबों में जो हाथ आश्रम के नाम पर डालेंगे, वह ख़ाली बाहर न आवेगा। आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि जो-जो महाशय चन्दा देंगे, उनका नाम-ठिकाना सब समाचार-पत्रों में छपा दिया जावेगा। इसके बाद आपने लम्बे भाषण में यह साबित कर दिया कि यह संस्था कितनी पवित्र है और आर्य-समाज के

सिद्धान्तों की रक्षा के लिए ऐसी संस्थाओं की बड़ी भारी आवश्यकता है।"

आपके बैठते ही प्रबल ताली की घोषणा से सभा-मण्डप गूँज उठा। इसके बाद मन्त्री महोदय वार्षिक रिपोर्ट पढ़ने के लिए उठ खड़े हुए।

"रिपोर्ट पढ़ने से पता लगा कि गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष १५००) की अधिक आय हुई है (हर्षध्वनि)। इस वर्ष कुल ५५७५॥–)॥ आमदनी हुई है। और ५५७५।)॥ खर्च हुए हैं। रोकड़ ।–) बाक़ी बचा है। इनमें कर्मचारियों का वेतन-खाते ३२००) और मकान-भाड़ा और स्टेशन के खाते १३००), मुक़दमे खाते ८००), छपाई खाते २००) रु० खर्च हुए हैं। ७५।)॥ फुटकर खर्च खाते में आए हैं। यद्यपि ।–) की रक़म जो हाथ में बची है, बहुत कम है, फिर भी वह बचत तो है। ईश्वर की कृपा से हमारी संस्था को क़र्ज़ नहीं लेना पड़ा है।"

रिपोर्ट खतम होते ही फिर तालियों की ध्वनि से सभा-भवन गूँज उठा। इस बीच में एक आदमी ने खड़े होकर कहा—"मुक़दमे में ८००) की बड़ी रक़म खर्च होने का कारण क्या है?" सभापति ने कहा—"कृपा कर बैठ जाइए, सभा के काम में गड़बड़ी न कीजिए।" उसने एक न सुनी। कड़क कर कहा—"महाशय, मैंने गत वर्ष ५००) तक दिया था, और बीच-बीच में भी मैं संस्था को सहायता देता रहा

हूँ। सो क्या मुक़दमेबाज़ी में ख़र्च करने के लिए ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि जनता के धन का दुरुपयोग तो नहीं किया जा रहा है।"

मन्त्री जी ने कहा—हमारे पूज्य प्रधान जी, डॉक्टर साहब पर एक मामूली औरत के भगाने का मुक़दमा खड़ा किया गया था। इसके सिवा हमारे विश्वासी कर्मचारी गजपति के विरुद्ध भी दो ऐसे ही झूठे मुक़दमे खड़े कर दिए गए थे। यह बात सभी जानते हैं कि उक्त दोनों सज्जन संस्था के कितने सहायक हैं। इसलिए विवश हो, हमें पैरवी करनी पड़ी और यह रुपया ख़र्च करना पड़ा।

इतने में एक दूसरे आदमी ने खड़े होकर कहा—और वेतन खाते जो आपने ३ हज़ार से अधिक रक़म डाली है, इसका ब्योरा क्या है ? जितने उच्च अधिकारी हैं, वे तो सभी अवैतनिक हैं, फिर इतनी रक़म क्या की जाती है ?

यह सुनते ही सभापति ने खड़े होकर कहा—महाशय, यह तो सभा के काम में पूरा विघ्न हो रहा है। कृपा कर आप बैठ जाइए।

चारों तरफ़ से शोर मच गया—"बैठा दो, निकाल दो, चुप कर दो।" उक्त महाशय ग़ुस्से से आग-बबूला होकर उठ कर बाहर चले गए।

सेक्रेटरी महाशय फिर रिपोर्ट पढ़ने लगे। इस पर एक और आदमी उठ कर कुछ कहने लगा।

सभापति ने कड़क कर कहा—महाशय ! इस भाँति बारम्बार बेहूदे ढङ्ग से सभा के काम में विघ्न करना अनुचित है। मैं उपस्थित भाइयों से पूछता हूँ—क्या आप इस बात को पसन्द करते हैं ?

चारों तरफ़ 'नहीं-नहीं' का शोर मच गया और वह आदमी भी उठ गया।

इसके बाद आश्रम के कार्यों के कुछ उदाहरण सुनाए गए।

रजवन्ती एक तेलिन थी। उसकी उम्र २२ वर्ष की थी। उसका पति उसे अच्छी तरह नहीं रखता था। उसे आश्रम में आश्रय दिया गया, और सरकार से लिखा-पढ़ी करके पति से बेदख़ल कर दिया गया। फिर उसका विवाह एक अच्छे युवक से कर दिया गया। उसने २००) आश्रम को दिए।

एक मुसलमान-स्त्री अज़ीमन स्टेशन पर कहीं जा रही थी। उसकी गोद में एक बालक भी था। उसे हमारे उत्साही कार्यकर्त्ता गजपति जी आश्रम में ले आए, और समझा-बुझा कर, उसे शुद्ध कर उसका विवाह एक युवक से कर दिया। उसके पति ने मुक़दमा चलाया, पर जीत हमारी ही हुई।

गुलाबो वैश्य-कन्या थी। उसका पति कमाऊ न था। उसे खाने-पीने का कष्ट था। उसने हमारे परम श्रद्धास्पद

डॉक्टर साहब को पत्र लिखा कि मुझे कहीं ठिकाना करवा दो। बस उसे वहाँ से किसी तरकीब से मँगवा लिया गया और उसका विवाह उसकी पसन्द के एक आदमी से कर दिया गया।

राजो नामी एक २३ वर्ष की स्त्री थी। वह व्यभिचारिणी हो गई थी। उसे कोई उपदेशक फुसला लाया था। कुछ दिन वह उसके घर में रही। पीछे न जाने कैसे उसे शराब पीने की आदत पड़ गई। वह वहाँ से भाग आई और आश्रम में पहुँचाई गई। यहाँ हमारे आदरणीय डॉक्टर साहब ने उसे एकान्त में बहुत-कुछ धर्मोपदेश दिया और उसे सुशिक्षा दी। पर वह दुष्टा डॉक्टर साहब के ऊपर ही कुकर्म का दोषारोपण करने लगी। इसके बाद वह स्थिर हुई और उसका ब्याह एक योग्य पुरुष के साथ कर दिया गया। उसने उसके साथ असद् आचरण किया, तो वह फिर आश्रम में आ गई। आश्रम की तरफ़ से उस पुरुष पर मुक़दमा चला दिया गया। उसने १०००) रु० देकर डर कर सुलह कर लिया। आधा उसमें से आश्रम को दिया गया। अब फिर उस स्त्री का विवाह किया जायगा।

इन उदाहरणों को सुन कर सभा में हलचल मच गई। और लोग बारम्बार धन्यवाद देने लगे। सभापति की प्रशंसाओं के पुल बँध गए। और संस्था की सदुपयोगिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इसके बाद ही चन्दे की

वर्षा शुरू हुई और मेज़ पर रुपयों और नोटों का ढेर लग गया।

८

दो आदमी चुपचाप बातें करते सड़क से जा रहे थे। सन्ध्या का समय था। एक ने कहा—बस ठहर जाओ। यही वह घर है। वह खिड़की देखते हो, वहीं है वह।

"वह तो बन्द है।"

"अवश्य वह खोलेगी। मैं तीन दिन से देखता हूँ। वह बार-बार इशारा करती है।

"यार क्यों बेपर की उड़ाते हो। ऐसे खूबसूरत भी नहीं हो, जो कोई औरत तुम पर मरे—फिर वह महलों में रहने वाली।" इतने में खिड़की खुली और एक औरत उसमें दीख पड़ी।

उस आदमी ने मित्र की बात खतम होते ही कहा—देखो, वह देखो।

दोनों ने देखा। वह कुछ सङ्केत कर रही थी।

अब कुछ देर उधर देख, एक बग़ल खड़े होकर उनमें से एक ने सङ्केत किया। सङ्केत का उत्तर सङ्केत में दिया गया। अब दोनों को सन्देह नहीं रहा। परन्तु एक ने कहा—"भाई देखो, यह मामला कुछ और ही ढङ्ग का मालूम देता है, प्रेम का नहीं। वरना वह औरत दो आदमियों को सङ्केत न करती।" यह कह कर उसने फिर उस स्त्री को

सङ्केत किया। स्त्री का सङ्केत पाकर उसने कहा—"ठहरो, सब ठीक हुआ जाता है। अभी हमें एक पुलिस का कॉन्स्टेबिल बुलाना पड़ेगा।" वह लपक कर एक कॉन्स्टेबिल को बुला लाया। कॉन्स्टेबिल ने खिड़की की तरफ़ देखा—वह स्त्री वहीं खड़ी थी और सङ्केत कर रही थी। उसने कहा—"ज़रूर यह औरत बदमाशों के अड्डे में क़ैद है। ठहरो, पहले यह देखना है कि यह मकान है किसका।"

कॉन्स्टेबिल ने तुरन्त ही पता लगा लिया और उन आदमियों से कहा—तुम लोग यहीं रहो, मैं थाने से मदद लेकर आता हूँ, मकान पर धावा बोलना पड़ेगा।

थोड़ी ही देर में दो कॉन्स्टेबिलों को लेकर पुलिस-इन्स्पेक्टर आ गया, और सब लोग आश्रम के द्वार पर जा धमके। द्वार पर धक्के देने पर एक आदमी ने द्वार खोला। पुलिस को देख कर वह घबरा कर बोला—"आप क्या चाहते हैं?"

"मैनेजर साहब कहाँ ह?"

"डॉक्टर जी हैं, वे भीतर हैं।"

"उन्हें ज़रा बुलाओ!"

चपरासी भीतर गया। डॉक्टर साहब की सुन कर फूँक निकल गई। वे बाहर आए और बिलैया-डण्डौत करके कहने लगे—जनाब, आपको भ्रम हुआ है, यहाँ ऐसी कोई वारदात नहीं है।

"मगर मैं मकान की तलाशी लेना चाहता हूँ।"

"आप ऐसा नहीं करने पावेंगे।"

इन्स्पेक्टर ने डॉक्टर को पीछे ठेल दिया और वे घर में घुस गए। वे सीधे उसी कमरे में पहुँचे। बाहर ताला बन्द था। उन्होंने कहा—इसमें कौन है?

"इसमें एक बाबू साहब का सामान बन्द है।"

"वे कहाँ हैं?"

"बाहर गए हैं?"

"इसकी ताली कहाँ है?"

"वह उन्हीं के पास है।"

"अच्छी बात है"—इन्स्पेक्टर ने एक कॉन्स्टेबिल से कहा—"ताला तोड़ दो।"

डॉक्टर साहब के विरोध करने पर भी ताला तोड़ दिया गया। देखा, उसमें तीन कोठरियों में ३ स्त्रियाँ क़ैद थीं। उन्होंने बयान दिए कि हमें फुसला कर लाया गया है और शादी करने को राज़ी न होने पर बन्द कर दिया गया है।

अधिष्ठाता जी उर्फ़ डॉक्टर जी उर्फ़ पिता जी, और धरमपुत्री जी उर्फ़ अधिष्ठात्री देवी जी तथा गजपति जी और बलवन्त तथा उक्त तीनों स्त्रियों को साथ ले पुलिस-इन्स्पेक्टर थाने को चल दिया। धर्मात्मा हाजत की शोभा-वृद्धि करने लगे।

६

कई स्त्रियों के ग़ायब होने की रिपोर्ट पुलिस में प्रथम ही से पहुँची हुई थी। पुलिस ने स्त्रियों से पूछ कर उनके वारिसों को बुला लिया। और सब सबूत तैयार होने पर मैजिस्ट्रेट के सामने मुक़दमा दायर किया गया।

मैजिस्ट्रेट के सामने पहुँच कर तो डॉक्टर साहब ने गम्भीर धर्म-भाव धारण कर लिया। "धरमपुत्री" जी बड़ी सीधी गऊ बन गईं। गजपति ने रोनी सूरत बना ली। तीनों स्त्रियाँ लज्जा से सिकुड़ी खड़ी थीं। आख़िर औरतों को उड़ाने, उन्हें बेचने और जबर्दस्ती बन्द कर रखने का मुक़दमा चला।

मैजिस्ट्रेट ने बारी-बारी से तीनों स्त्रियों के बयान लिए।

एक ने कहा :—

"मेरा नाम रामकली है। मैं हैदराबाद दक्खिन से आई हूँ। पर मेरा असली वतन कानपुर है। जात की ब्राह्मण हूँ। मेरा पति हैदराबाद में नौकर था, वह वहीं मर गया। तब एक पड़ोस के भले घर में मैं मिहनत-मजूरी करके गुज़र करने लगी। उस घर के मालिक की मेरे ऊपर बुरी नज़र पड़ी, उन्होंने मुझे तङ्ग करना शुरू कर दिया। अन्त में उन्होंने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। उन्होंने बड़े-बड़े सब्ज़ बाग़ दिखलाए थे। पर थोड़े ही दिन में उनका बर्ताव

बदल गया। उन्होंने मुझे पढ़ने की सलाह दी, मुझे वह पसन्द आ गई। उन्होंने कहा कि हम तुझे दिल्ली-आश्रम में भेज देते हैं, वहाँ बहुत अच्छा बन्दोबस्त है। मैंने स्वीकार किया। वे मुझे मन्त्री आर्य-समाज के पास ले गए। उन्होंने मुझे लिखा-पढ़ी करके यहाँ पहुँचा दिया। यहाँ इन लोगों के रङ्ग-ढङ्ग देख कर मैं घबरा गई। मन्त्री जी ने कहा था कि वहाँ आर्य-देवियाँ रहती हैं—विद्या पढ़ाई जाती है, और सन्ध्या, हवन नित्य-कर्म होते हैं। पर यहाँ देखा तो कुट्टन-ख़ाना है, गुण्डों का राज्य है। वे भले घर की बहिन-बेटियों को फुसला कर लाते हैं और दस-पाँच दिन खिला-पिला कर बेच देते हैं। मेरा भी सौदा होने लगा। २-३ आदमी भी बुलाए गए। रुपए भी वसूल कर लिए, पर मैं मर्दों की दुष्टता को जान चुकी हूँ। मैं इन पर विश्वास नहीं करती, न उनकी दासी बनना चाहती हूँ। फिर मेरी क़िस्मत में जो होना था, हो गया। मैं विद्या पढ़ कर कहीं अध्यापिका की नौकरी करना चाहती थी, जिससे गुज़र हो जाती, परन्तु ये लोग तो बेचने को पागल हो रहे थे। मुझे बहुत डराया-धमकाया, पर जब मैं राज़ी न हुई, तब बन्द कर दिया। मैं ७ दिन बन्द रही। दो बार मुझे पीटा भी गया। एक बार यह गजपति ज़बर्दस्ती करने को मेरी कोठरी में घुस आया था, उससे बड़ी कठिनाई से जान बचाई। मैंने उसकी बाँह में काट खाया था, उसका निशान अवश्य होगा। यह

अधिष्ठात्री देवी कहाती हैं, पर पूरी चुड़ल हैं। ये उसका ज़ुल्म आँखों देखती और खिलखिला कर हँसती थीं। नित्य ही यहाँ ऐसा होता है। उस दिन से मुझे खाना भी नहीं दिया गया था और मार डालने की धमकी दी जाती थी।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारी उम्र क्या है ?

रामकली—२२ वर्ष हुज़ूर।

मैजिस्ट्रेट—तुम्हारे पास कुछ गहना और दूसरा सामान भी था, जब तुम आई थीं ?

रामकली—जी हाँ हुज़ूर, २ अदद सोने तथा ४ अदद चाँदी के गहने थे, सबकी क़ीमत २००) होगी। वे सब इन्होंने छीन लिए। वहाँ कोष में जमा होंगे।

मैजिस्ट्रेट—और कपड़े वग़ैरह ?

रामकली—वह भी सब छीन लिया।

मैजिस्ट्रेट—अच्छा तुम इधर बैठो। दूसरी लड़की को लाओ।

दूसरी लड़की ने आकर बयान दिया :—

"मेरा नाम चम्पा है। उम्र १८ वर्ष की है। जाति की वैश्य हूँ। मेरे पिता बरेली में पुलिस-इन्स्पेक्टर थे। जब मैं ७-८ वर्ष की थी, तब कुछ लड़कियों के साथ खेल रही थी। इतने में एक आदमी आया, वह फुसला कर हमें तमाशा दिखाने के बहाने थोड़ी दूर ले गया। हम तीन लड़कियाँ चलीं। थोड़ी दूर पर उसने एक ताँगा रोक कर

कहा—'लो इस पर बैठ कर चलो, जल्दी पहुँच जायँगे।' हम लोग ताँगे पर बैठ गए। उसने एक मकान में हमें छोड़ दिया, वह बहुत बड़ा मकान था और उसमें बहुत सी लड़कियाँ थीं। हम कुछ दिन घर की याद में रो-पीट कर वहाँ रहने लगीं। बहुत दिन बीत गए और हम घर को भूल गईं। एक बार एक पञ्जाबी-सा मोटा-ताज़ा आदमी मेरे पास लाया गया। वह मुझे घूर-घूर कर देखने लगा। पीछे पता लगा, इससे मेरी शादी होगी। मैं डर गई। उस आश्रम में एक कहार का लड़का नौकर था, उसने कहा कि मेरे साथ शादी करे तो मैं तुझे यहाँ से निकाल दूँ। मैं राज़ी हो गई और वह वहाँ से एक दिन शाम को मुझे निकाल कर, रेल में बैठा कर मथुरा ले आया। हम लोग धर्मशाला में ठहर गए। न जाने कैसे पुलिस ने भाँप लिया कि यह भगा कर ले आया है। पुलिस उसके पीछे पड़ी। वह भाग गया, मैं अकेली रह गई। कहाँ जाऊँ, यह कुछ न बता सकी। पिता का स्मरण भी न रहा था। कहाँ हैं, कौन हैं। लाचार कुछ लोगों ने मुझे वहाँ के विधवाश्रम में भेज दिया। मैं फिर वहाँ रहने लगी।

"पर यहाँ के हालात बड़े गन्दे थे। खुला व्यभिचार होता था। पुलिस वाले आते और उन्हें लड़कियाँ रात भर को सौंप दी जाती थीं। एक बार पुलिस-इन्सपेक्टर को मेरे कमरे में भेज दिया गया। मैं भय से थर-थर

काँपने लगी। पेशाब का बहाना कर छत पर से कूद कर भागी। कुछ देर तो जमुना किनारे घाट पर छिपी रही, पीछे स्टेशन पर आई। वहाँ यह आदमी गजपति मुझे मिला। इसने मेरी सब कहानी सुन कर कहा कि तेरे बाप को मैं जानता हूँ। चल मैं तुझे वहाँ पहुँचा दूँ। यह मुझे दिल्ली ले आया और यहाँ आश्रम में रख दिया।

"यहाँ भी वही हाल देखा। पर इस बार मैं अपने को न बचा सकी। इस गजपति ने मेरा धर्म बिगाड़ दिया। यह रात-दिन वहीं रहता है और बिना इसकी इच्छा पूरी किए कोई लड़की अपनी इच्छानुसार काम नहीं कर सकती। यह बड़ा निठुर नर-पशु है, नित्य ही दो-चार शिकार पकड़ लाता है। डॉक्टर बूढ़ा घाघ है, बेटी-बेटी करके ही सब कुकर्म करता है। उस दिन मुझसे कहा कि मेरे यहाँ रोटी पकाने के लिए आ जाना। जब गई तो बुरी-बुरी बातें कहने लगा। मैं वहाँ से अकेली ही भाग आई। अधिष्ठात्री देवी उनकी पुरानी चुड़ैल हैं। उन्होंने सब्ज़ बाग़ दिखा कर मुझे शादी करने को लाचार कर लिया। मैं राज़ी हो गई। गहने, कपड़े, रुपए मिलने की आशा थी। वह आदमी मेरठ के पास के किसी देहात का बनिया था। लोहे का काम करता था। उसकी औरत मर चुकी थी और उसे गर्मी की बीमारी हो गई थी। मुझे उससे बड़ी घृणा थी। पर वह मेरी बड़ी आव-

भगत करता था । यह बात तय हो गई थी कि गजपति अमुक दिन वहाँ जायगा और मौक़ा पाकर उड़ा लाएगा। यही हुआ, और मैं फिर यहाँ लाई गई। वह भी आया, झगड़ा किया तो उसे डरा दिया कि तुमने लड़की को मार डालने की कोशिश की है, तुम पर फ़ौजदारी चलेगी। बेचारा भाग गया।

"फिर दूसरी जगह मेरा ब्याह कर दिया गया। और वहाँ से भी उसी भाँति भगा लाई गई। पर इस बार जिससे ब्याह हुआ था, वह आदमी मुझे पसन्द था; पर ये लोग ज़बर्दस्ती ले आए। मैंने अपने गहने, कपड़े, रुपए माँगे और पति के पास जाना चाहा तो इन्होंने मुझे मारा और बन्द कर दिया। ६ दिन से मैं बन्द हूँ। गजपति रोज़ रात को मेरा धर्म नष्ट करता है, उससे मेरी पार नहीं बसाती।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारे गहने, कपड़े, रुपए कहाँ हैं ?

चम्पा—हुज़ूर इन्हीं के पास हैं।

मैजिस्ट्रेट—डॉक्टर को मालूम है ?

चम्पा—हुज़ूर उसी के हुक्म से वे छीने गए हैं।

मैजिस्ट्रेट—अच्छा हटाओ, तीसरी को बुलाओ।

तीसरी ने आकर बयान दिया :—

"मेरा नाम गोमती है। आयु २५ वर्ष, जात वैश्य, रहने वाली ज़िला अलीगढ़ की हूँ। मेरे पति हैं, ससुर हैं

और परिवार है। मैं राजघाट गङ्गास्नान करने गई थी, वहाँ साथ वालियों से भटक गई। यह गजपति मुझे माता-माता कह कर साथ ले आया। कहा, हम स्वयंसेवक हैं। चलो घर पहुँचा दें। इसके साथ दो औरतें और थीं। कहा, इन्हें पहुँचा कर तब तुम्हें पहुँचावेंगे। मैं क्या करती, चुप हो रही। यह मुझे दिल्ली ले आया। यहाँ रख दिया। यहाँ का हाल देख-देख कर मैं रोती और तक़दीर को ठोकती थी। पर डॉक्टर ने कहा—'देखो, हमने तुम्हारे पति को तार दिया था कि इसे ले जाओ, तो जवाब आया है कि वह अब हमारे काम की नहीं रही। कहो, अब क्या कहती हो।' मैं खब रोई और मरने पर तैयार हो गई। तब इन्होंने धीरज दिया और एक महीने बाद मुझे मजबूर करके ब्याह कर दिया। मैंने समझा, तक़दीर में जो होना लिखा था, वही हुआ। मैं चली गई। पीछे यहाँ से एका-एक आदमी दौड़ा गया और बुला कर फिर ले आया। यहाँ आने पर पता लगा कि मेरे पति को पता लग गया था और वे पुलिस लेकर यहाँ आए थे, पर लौट गए। ये मुझसे एक लिखे हुए काग़ज़ पर दस्तख़त कराना चाहते हैं, पर मैं नहीं करती। मैं वहाँ भी नहीं जाना चाहती, जहाँ इन्होंने मेरा ब्याह किया था। मैं अपने घर जाना चाहती हूँ। इसीलिए इन्होंने मुझे बन्द कर रक्खा है। मुझे बन्द किए १० दिन हो गए। मैं खिड़की से नित्य राह चलतों

को इशारे करती थी कि कोई छुड़ावे। आख़िरकार पुलिस ने आकर हमें छुड़ाया।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारे साथ भी कुछ गहना आदि था ?

गोमती—जी हुज़ूर, मेरे पास दो हज़ार के लगभग गहना था, वह सब इन्होंने जमा करने के बहाने ले लिया।

"अच्छी बात है।"—मैजिस्ट्रेट ने उसे बैठा कर कहा—"अब गवाहों को बुलाओ।"

पुलिस-इन्स्पेक्टर ने गवाही दी :—

"मैं अमुक थाने में इन्स्पेक्टर हूँ। अमुक नम्बर के कॉन्स्टेबिल के कहने से मैंने आश्रम के मकान पर धावा मारा। ये लड़कियाँ ताले में बन्द मिलीं। तलाशी में यह नक़दी, ज़ेवर और काग़ज़ात मिले। इन्हें लड़कियों ने शिनाख़्त से अपना बताया है।"

इसके बाद और भी २-३ गवाही लेकर मैजिस्ट्रेट ने कहा—अच्छा अभियुक्त क्या कहना चाहते हैं ?

डॉक्टर ने बयान दिया :—

"हुज़ूर, मैं पुराना आर्य-समाजी हूँ। सब लोग मुझे जानते हैं। मैं कभी झूठ नहीं बोलता। नित्य सन्ध्या-हवन करता हूँ। ये लड़कियाँ और गवाह झूठे हैं। विधवाश्रम बड़ी पवित्र संस्था है। स्त्रियों का उद्धार करना उसका उद्देश्य है। ये देखिए, छपे हुए सार्टिफ़िकेट हैं, जो बड़े-

बड़े लोगों ने दिए हैं। मैं सबको धर्मपुत्री समझता हूँ। विवाह उनकी राज़ी पर ही होते हैं। गहने-कपड़े मैं सब देने को तैयार हूँ। मेरा उद्देश्य अधम का नहीं, धर्म का है। धर्म की जय होती है। यही ऋषि दयानन्द का मिशन है।"

गजपति ने कहा—"मैं इस मामले में कुछ नहीं जानता, सिर्फ़ कुर्की करता हूँ।" अन्य अभियुक्तों ने भी इन्कार कर दिया।

मैजिस्ट्रेट ने फ़ैसला लिखा :—

"इस मुक़दमे के सम्बन्ध में मेरी मुख्तसिर राय है कि ऐसे ही पाखण्डियों से सच्चे धर्म का अनिष्ट होता है। धर्म चाहे सनातन हो, चाहे आर्य-समाजी, या कोई भी समाजी—यदि उसमें सरलता, सत्यता और श्रद्धा तथा विश्वास है, तो वह प्रशंसनीय है। मैं यह जानता हूँ कि प्रत्येक मत में कुछ सच्ची लगन के सत्यवक्ता और कर्मिष्ठ आदमी हैं, जो वास्तव में प्रशंसा के योग्य हैं। इसके सिवा सभी सम्प्रदायों में कुछ पाखण्डी लोग भी होते हैं, जो भीतर कुछ और बाहर कुछ और होते हैं। पर अभियुक्तों जैसे पेशेवर अपराधियों की श्रेणी तो पृथक ही है। ये न केवल पेशेवर अपराधी ही हैं, प्रत्युत उसे किसी समाज या धार्मिक संस्था की आड़ में छिपा कर, उस संस्था का गौरव भी नष्ट करते हैं। निस्सन्देह समाज के लिए ऐसे आदमी कलङ्क-रूप हैं।

"यह बात तो सच है कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की दुर्दशा का अन्त नहीं है और वे चारों तरफ से प्रताड़ित होकर असहाय हो जाती हैं। उनकी सहायता के लिए ऐसे आश्रमों की स्थापना एक उच्च-कोटि के अस्पताल से कम पवित्र संस्था नहीं। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि ऐसी संस्थाओं का सम्पर्क बहुधा भयानक, पतिता स्त्रियों से पड़ना बहुत-कुछ स्वाभाविक है और उनके साथ थोड़ा अनैतिक व्यवहार होना भी असम्भव नहीं। विधवाओं के विवाह की उपयोगिता का कौन बुद्धिमान समर्थन नहीं करेगा। परन्तु अच्छी-बुरी सभी स्त्रियों को अवैध उपायों से फुसला कर इकट्ठा करना, उनके आचरण सुधारने तथा उन्हें शिक्षिता करने का कोई उद्योग न करके, रुपया लेकर लोगों को बेच देना; यही नहीं, उन्हें फुसला कर वापस बुलाना और दुबारा-तिबारा बेचना भयानक अपराध और जघन्य पाप है। खास कर जब वह ऐसे आदमियों के द्वारा किया जाय, जिन पर जनता विश्वास करती और सत्पुरुष समझती है। यह सम्भव है कि संस्था को गुण्डों और दुष्ट स्त्रियों से साबक़ा पड़ता रहे, पर यह उचित नहीं कि वह गुण्डों के हाथ में आश्रम को सौंप दे, गुण्डों को अधिकारी बनाए। अभियुक्तों पर जो आरोप प्रमाणित हुए हैं, वे सङ्गीन हैं और ऐसे आदमी समाज के लिए बहुत भयानक हैं। मैं इन्हें उनकी दुष्टता के लिए डॉक्टर

सुखदयाल को २ वर्ष और अन्य लोगों को ९-९ मास का सपरिश्रम कारावास की सज़ा देता हूँ।"

दण्डाज्ञा सुनते ही डॉक्टर साहब तो उसी भाँति टेढ़ी गर्दन करके और बूढ़े बकरे की भाँति दाँत निकाल कर हँस दिए। परन्तु अधिष्ठात्री जी धाड़ मार कर रो दीं। गजपति भी ग़ुस्से से होंठ चबाने और गालियाँ बकने लगा।

पुलिस ने सबको पकड़-पकड़ कर सीखचों में बन्द कर दिया। और तीनों स्त्रियाँ मय अपने सामान के स्वाधीन हो और एक बार 'पिता जी नमस्ते' का व्यङ्ग करके अपनी राह लगीं।

चाँद प्रेस लि०, इलाहाबाद

की

कुछ नई तथा उत्तम पुस्तकें

१—केसर की क्यारी ... ... ५)
२—पुनर्जीवन ... ... ५)
३—शिल्प-कुञ्ज ... ... ३)
४—नवीन दाम्पत्य जीवन में स्त्रियों के अधिकार ... ... २॥)
५—सङ्गीत-सौरभ ... . २)
६—बछरी ... ... २)